वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ५२ अंक ७ जुलाई २०१४

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जुलाई २०१४

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५२
अंक ७

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

स्वामी वीरेश्वरानन्द : एक दिव्य जीवन

सम्पादक : स्वामी चैतन्यानन्द : (हिन्दी संस्करण) स्वामी विदेहात्मानन्द

पृष्ठ : लगभग १०५० (दो खण्डों में) – मूल्य : ३०० रुपये (डाकव्यय अलग)

'स्वामी वीरेश्वरानन्द स्मृति कमेटी' के तत्त्वावधान में विगत ६ अप्रैल २०१४ ई. को रामकृष्ण मिशन, नई दिल्ली के सभागार में उपरोक्त हिन्दी ग्रन्थ का विमोचन सम्पन्न हुआ।

भारत तथा अन्य देशों के वरिष्ठ तथा कनिष्ठ संन्यासियों, संन्यासिनियों, भक्तों तथा अनुरागियों द्वारा लिखित ११३ स्मृतिकथाएँ इस ग्रन्थ का विशेष आकर्षण है। साथ ही इसमें है पूज्यपाद महाराज की जीवनी, १२८ पत्र, प्रश्नोत्तर-विभाग, उक्ति-संकलन, लेख-संकलन तथा लगभग २०० फोटोग्राफ।

अपनी प्रति के लिये लिखें –

अद्वैत आश्रम, ५ डिही एण्टाली रोड,
कोलकाता – ७०००१४
Email : mail@advaitaashrama.org
Wabsite : www.advaitaashrama.org

रामकृष्ण मठ
(प्रकाशन विभाग)
रामकृष्ण आश्रम मार्ग, धन्तोली,
नागपुर ४४००१२ (महाराष्ट्र)

वर्ष ५२ — जुलाई २०१४ — अंक ७

पुरखों की थाती

न दुर्जनः सज्जनतामुपैति
बहुप्रकारैरपि सेव्यमानः ।
भूयोऽपि सिक्तः पयसा घृतेन
न निम्बवृक्षो मधुरत्वमेति ।।४०१।।

– जैसे नीम के वृक्ष को चाहे जितना भी दूध-घी से सींचा जाय, वह मीठा नहीं हो सकता; वैसे ही बुरे व्यक्ति की चाहे जैसे भी सेवा क्यों न की जाय, वह सज्जन नहीं हो सकता।

न भूतपूर्वं न कदापि वार्ता हेम्नः कुरंगः न कदापि दृष्टः ।
तथापि तृष्णा रघुनन्दनस्य विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ।।

– सोने का मृग, न तो पहले कभी होते सुना गया था, न कभी किसी ने देखा था, तो भी रघुनन्दन श्रीराम के मन में उसे पाने की इच्छा हुई, इसी से यह सिद्ध होता है कि बुरे दिन आने पर बुद्धि उलटी हो जाती है।

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।
धर्मः स नो यत्र न सत्यमस्ति
सत्यं न तद्यच्छलमभ्युपैति ।।४०३।।

– वह सभा सभा नहीं है, जिसमें वृद्ध न हों। वे वृद्ध वृद्ध नहीं हैं, जो धर्म का उपदेश न दें। वह धर्म धर्म नहीं है, जिसमें सत्य की मात्रा न हो और वह सत्य सत्य नहीं है, जो छल-कपट से परिपूर्ण हो।

न हि कश्चित् विजानाति किं कस्य श्वो भविष्यति ।
अतः श्वः करणीयानि कुर्यादद्यैव बुद्धिमान् ।। ४०४

– कोई भी नहीं जानता कि कल किसका क्या होगा। अत: बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिये कि जो कार्य कल करने का है, उसे आज ही कर डाले।

नागो भाति मदेन कं जलरिहैः पूर्णेन्दुना शर्वरी
शीलेन प्रमदा जवेन तुरगः नित्योत्सवैः मन्दिरम् ।
वाणी व्याकरणेन हंसमिथुनैः वापी सभा पंडितैः
सत्पुत्रेण कुलं नृपेण वसुधा लोकत्रयं विष्णुना। ४०५

– हाथी मतवाला होने से सुशोभित होता है, सरोवर कमलों के द्वारा, रात पूर्णिमा के चन्द्र द्वारा, नारी शील के द्वारा, घोड़ा अपने वेग से, मन्दिर निरन्तर उत्सव के द्वारा, वाणी व्याकरण के द्वारा, तालाब हंसों के जोड़े के द्वारा, सभा विद्वानों के द्वारा, वंश सुपुत्र के द्वारा, पृथ्वी राजा के द्वारा और तीनों लोक भगवान विष्णु के द्वारा सुशोभित होते हैं।

न हि सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम् ।
न हि सत्यात् परं ज्ञानं तस्मात् सत्यं समाचरेत् ।४०६

– सत्य की महिमा अपार है। सत्य से बढ़कर धर्म नहीं है और असत्य से बड़ा पाप नहीं। सत्य परम ज्ञान है। इसलिये सत्य का आचरण करना चाहिये।

नागुणी गुणिनां वेत्ति गुणी गुणीषु मत्सरी ।
गुणी च गुणरागी च विरलः सरलो जनः ।।४०७।।

– गुणहीन लोग गुणवानों को समझ नहीं पाते और जो गुणवान हैं, वे अन्य गुणवानों से ईर्ष्या करते हैं; (परन्तु) ऐसे सरल व्यक्ति अत्यन्त दुर्लभ हैं, जो स्वयं भी गुणवान हों और अन्य गुणवानों के प्रति प्रीति रखते हों।

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।
आपत्स्वपि न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ।।४०८।।

– समझदार लोग अप्राप्य वस्तु की इच्छा नहीं करते, नष्ट वस्तु के बारे में सोचते नहीं और विपत्तियों में घबड़ाते नहीं।

❖ (क्रमशः) ❖

आत्म-प्रबोध

भाई यदि चाहो हित अपना,
तो धीरज रखकर बात सुनो ।
है स्पष्ट सभी कुछ दिन समान,
मत जान-बूझ अनजान बनो ।।

भीतर अँधियारा फैला है,
बाहर रौशनी जलाते हो,
मन में कालिमा भरी है पर,
तन को धो-धोकर न्हाते हो ।

अन्तर में बैठे देव मगर, तुम देवालय को जाते हो ।
उनको विसार कर जड़ समान, बस सोते, पीते, खाते हो ।।

तुम कौन, कहाँ से आये हो,
इस पर भी जरा विचार करो ।
हो डूब रहे भव-दलदल में,
निज जीवन का उद्धार करो ।।

अब सुनो मित्र भीतर क्या है -
सच्चिदानन्द चिर ज्योतिर्मय ।
कूटस्थ अखण्ड विराजित है,
वह अजर अमर आत्मा अभय ।।

रस-रूप-रंग तुम ढूँढ़ रहे,
वह सभी रसों का उद्गम है ।
अपने अन्तर में झाँको तो,
वह परम वस्तु सुन्दरतम है ।

बाहर का सब कुछ है असार, भीतर का तत्त्व चिरन्तन है ।
अपनी महिमा में समासीन, वह व्याप रहा लघु तन-मन है ।

इस जग का माया-मोह छोड़,
निज आत्मा का सन्धान करो ।
उसका ही तुम प्रतिपल 'विदेह',
नित श्रवण, मनन औ' ध्यान करो ।।

पश्चिमी दुनिया में दूसरी बार

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

पेरिस, २८ अगस्त, १९०० : बस, यही तो जीवन है – केवल मेहनत करते रहो, मेहनत करते रहो। इसके सिवा हम भला कर भी क्या सकते हैं? बस, मेहनत करते रहो, मेहनत करते रहो। कुछ होना अवश्य है, कोई-न-कोई रास्ता अवश्य मिलेगा। और यदि ऐसा न हो – सम्भवत: वास्तव में ऐसा कभी नहीं होगा – तो फिर, तो फिर क्या होगा? हमारे जितने भी प्रयास हैं, वे सभी तात्कालिक हैं, उस चरम परिणति – मृत्यु से बचने के प्रयास हैं। अहा, सारे क्षतियों की पूर्ति करनेवाली मृत्यु! तुम्हारे बिना जगत् की न जाने क्या दशा होती?

ईश्वर को धन्यवाद है कि यह संसार न सत्य है और न स्थायी। भविष्य भला अच्छा कैसे हो सकता है? वह तो वर्तमान का ही फलस्वरूप है; अत: इससे अधिक खराब भले ही न हो, तो भी वह वर्तमान के अनुरूप ही होगा।

स्वप्न, अहा! स्वप्न! स्वप्न देखते रहो! स्वप्न देखते रहो! स्वप्न का जादू ही इस जीवन का कारण है और उसके अन्दर ही इस जीवन का समाधान भी मौजूद है। स्वप्न, स्वप्न, केवल स्वप्न! स्वप्न के द्वारा ही स्वप्न को दूर करो।

मैं फ्रांसीसी भाषा सीखने का प्रयास कर रहा हूँ। ... अभी से कुछ लोग प्रशंसा कर रहे हैं। सारी दुनिया के बीच वही अन्तहीन गोरखधन्धे की बातें, भाग्य के असीम उत्थान-पतन की बातें – जिसका छोर ढूँढ़ना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है; तो भी हर व्यक्ति उस समय यही समझने लगता है कि उसने उसे ढूँढ़ निकाला है और उसके द्वारा कम-से-कम उसे स्वयं तृप्ति मिलती है तथा क्षण भर के लिए वह स्वयं को भुलावे में डाल रखता है – है न ऐसा ही?

खैर, अब हमें महान् कार्य करने होंगे। पर महान् कार्यों की कौन परवाह करता है? कुछ छोटे-मोटे कार्य ही क्यों न किये जायँ? हर कार्य एक जैसा ही उत्कृष्ट है। गीता तो छोटी चीजों में महानता को देखने की शिक्षा देती है। धन्य है वह प्राचीन ग्रन्थ! ...

शरीर के बारे में सोचने-विचारने के लिए मेरे पास ज्यादा समय नहीं है। अत: यह ठीक ही होगा। इस संसार में कुछ भी सदा के लिये भला नहीं है। परन्तु बीच-बीच में भूल जाते हैं कि भले का तात्पर्य केवल 'भला होना' और 'भलाई करना' है। ...

हम सभी इस संसार में अपना-अपना भली या बुरी भूमिका निभा रहे हैं। इस बात का मुझे पक्का विश्वास है कि जब यह स्वप्न टूट जायेगा और हम रंगमंच छोड़ चुके होंगे, तब हम खुले दिल से इन बातों पर हँसेंगे।[५३]

पेरिस, १ सितम्बर, १९०० : व्यर्थ का चक्कर काटकर मैं स्वयं को और परेशान करना नहीं चाहता। इस समय मैं कहीं बैठकर पुस्तकों आदि के साथ समय बिताना चाहता हूँ। फ्रांसीसी भाषा पर मैं कुछ हद तक अधिकार पा चुका हूँ, दो-एक महीने इन लोगों के साथ रहने से मैं इस भाषा में भलीभाँति बातें कर सकूँगा। फ्रांसीसी तथा जर्मन – इन दोनों भाषाओं में दक्षता प्राप्त होने पर यूरोपीय विद्या में सही प्रवेश मिल सकता है। ...

मेरा स्वास्थ्य कभी ठीक रहता है और कभी नहीं। इस समय फिर श्रीमती मेल्टन की वही मर्दन-चिकित्सा जारी है। उसका कहना है कि मैं ठीक हो चुका हूँ! मैं तो सिर्फ इतना ही देख रहा हूँ कि मेरे पेट में चाहे जितनी भी वायु की शिकायत क्यों न हो, चलने-फिरने अथवा पहाड़ पर चढ़ने में मुझे कोई कष्ट नहीं होता है। प्रात:काल मैं जोरदार व्यायाम करता हूँ और फिर ठण्डे पानी में डुबकी लगाता हूँ!!

कल मैं उन व्यक्ति का मकान देख आया हूँ, जिनके साथ मुझे यहाँ रहना है। वे गरीब किन्तु विद्वान् हैं; उनके रहने की जगह पुस्तकों से भरी हुई है, वे छठी मंजिल पर रहते हैं। यहाँ अमेरिका की तरह 'लिफ्ट' की व्यवस्था नहीं है – सबको चढ़ना-उतरना पड़ता है। किन्तु अब मुझे इस कारण कोई कष्ट नहीं होता।

उनके मकान के चारों ओर एक सुन्दर सार्वजनिक पार्क है। वे अंग्रेजी नहीं बोल सकते, यह भी मेरा उनके पास जाने

का एक कारण है। वहाँ बाध्य होकर मुझे फ्रांसीसी भाषा बोलनी होगी। 'माँ' की जो इच्छा! वे ही जानें कि वे क्या कराना चाहती हैं। वे कुछ बताती नहीं, 'हमेशा चुप रहती हैं', परन्तु मैं देख रहा हूँ कि पिछले करीब महीने भर से मेरा ध्यान और भगवन्नाम का जप भलीभाँति हो रहा है।[५४]

पेरिस, १५ सितम्बर, १९०० : पेरिस मुझे सम्मोहित करता जा रहा है। इस समय मैं एक फ्रांसीसी विद्वान् श्री जूल बोआ के साथ निवास कर रहा हूँ, जो मेरी कृतियों के पाठक तथा प्रशंसक रहे हैं।

ये अंग्रेजी बहुत कम बोलते हैं, इस कारण मुझे अपनी फ्रांसीसी शब्दावली का उपयोग करना पड़ता है और ये कहते हैं कि मैं इसमें सफल भी हो रहा हूँ; अब मैं उनकी बातें समझ सकता हूँ, बशर्ते कि वे उसे धीरे-धीरे बोलें।

कल मैं ब्रिटैनी जा रहा हूँ, जहाँ मैं अपने अमेरिकी मित्रों के साथ समुद्री हवा तथा मालिश का आनन्द लूँगा।

श्री बोआ के साथ मैं एक छोटी यात्रा पर जा रहा हूँ, उसके बाद नहीं कह सकता कि कहाँ जाऊँगा। जानती हो, मैं खूब फ्रांसीसी होता जा रहा हूँ! इसके साथ ही मैं व्याकरण भी सीख रहा हूँ और इसके लिये कड़ा परिश्रम कर रहा हूँ।... आशा करता हूँ कि मैं कुछ ही महीनों में फ्रांसीसी बन जाऊँगा, परन्तु उसके बाद मैं इंग्लैंड में रहकर उसे भूल भी जाऊँगा।

मैं सबल, सकुशल तथा सन्तुष्ट हूँ – बिल्कुल नीरोग।[५५]

ब्रिटानी, फ्रांस, २०(?) सितम्बर, १९०० : अब मैं फ्रांस के समुद्रतट पर रह रहा हूँ। Congress of History of Religions (धर्मेतिहास सम्मेलन) सम्पन्न हो चुका है। सम्मेलन जरा भी महत्त्वपूर्ण नहीं था। करीब बीस विद्वानों ने मिलकर शालग्राम और जिहोवा की उत्पत्ति आदि विषयों में व्यर्थ की बकवाद की। मैं भी उस अवसर पर कुछ बोला।[५६]

यूरोपीय विद्वानों का यह कहना कि आर्य लोग कहीं से घूमते-फिरते आकर भारत में जंगली जाति को मार-काटकर और जमीन छीनकर स्वयं यहाँ बस गये, केवल मूर्खों की बात है। आश्चर्य तो इस बात का है कि हमारे भारतीय विद्वान् भी उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाते हैं और ये ही सब झूठी बातें हमारे बाल-बच्चों को पढ़ायी जाती हैं – यह घोर अन्याय है।

मैं स्वयं अल्पज्ञ हूँ, विद्वत्ता का दावा नहीं करता; पर जो थोड़ा-सा समझता हूँ, उसी के आधार पर मैंने पेरिस कांग्रेस में उसका प्रतिवाद किया। मैंने इस देश के और स्वदेशी विद्वानों के समक्ष प्रश्न उठाये हैं। समय मिलने पर मैं विस्तार से इस सिद्धान्त पर अनेक प्रश्न उठाऊँगा।[५७]

पेरिस, १४ अक्तूबर १९०० : मैं मोशियो जूल बोआ नामक एक प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक के यहाँ ठहरा हुआ हूँ। मैं उनका मेहमान हूँ। चूँकि कलम ही उनकी रोजी का साधन है, अत: वे धनी नहीं हैं; पर हम लोगों के कई महान् विचार आपस में मिलते हैं, इसलिये हममें खूब पटती है।

कुछ वर्ष पूर्व उन्हें मेरा पता लगा था और उन्होंने मेरी कई पुस्तिकाओं का फ्रांसीसी में अनुवाद भी कर डाला है। ...

मैं मादाम काल्वे, मिस मैक्लाउड तथा मोशियो जूल बोआ के साथ यात्रा करूँगा। मैं सुप्रसिद्ध गायिका मादाम काल्वे का अतिथि रहूँगा। हम लोग कुस्तुन्तुनिया, निकट-पूर्व, यूनान तथा मिस्र जाएँगे। वापसी में वेनिस भी देखेंगे।

सम्भव है कि पेरिस लौटने के बाद मैं कुछ व्याख्यान दूँ, परन्तु वे अंग्रेजी में होंगे, जिन्हें एक दुभाषिया फ्रांसीसी में अनुवाद करता चलेगा। इस आयु में, एक नयी भाषा सीखने के लिये अब न तो मेरे पास समय है, न शक्ति। मैं एक वृद्ध आदमी हूँ, है न? ...

मैंने अमेरिका में जितने भी रुपये कमाये थे, उन सबको मैं भारत भेज रहा हूँ। अब मैं पहले की ही भाँति मुक्त हूँ – एक भिक्षु-संन्यासी। मठ के अध्यक्ष-पद से भी मैंने त्यागपत्र दे दिया है। ईश्वर को धन्यवाद कि मैं मुक्त हूँ। अब ऐसी जिम्मेदारी अपने सिर पर लेना मेरे वश की बात नहीं है।...

जैसे पेड़ की डालियों पर सोती हुई चिड़ियाँ भोर में जग जाती हैं और सुबह होते ही गाती हुई ऊपर गहन नीलाकाश में उड़ जाती हैं, वैसे ही मेरे जीवन का अन्त भी है।

मुझे अनेक कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं और साथ ही कई महान् सफलताएँ भी मिलीं। पर मेरी तमाम कठिनाइयों और कष्टों का कोई मूल्य नहीं, क्योंकि अन्त में मैं सफल हुआ हूँ। मैंने अपना लक्ष्य पा लिया है। मुझे वह मोती मिल गया है, जिसके लिए मैंने जीवनरूपी सागर में डुबकी लगायी थी। मैं पुरस्कृत हुआ हूँ। मैं सन्तुष्ट हूँ।

इस प्रकार मुझे ऐसा लगता है, मानो मेरे जीवन का एक नया अध्याय खुल रहा है। मुझे ऐसा लगता है, मानो अब जगदम्बा मुझे जीवन-मार्ग पर धीरे-धीरे बिना किसी अवरोध के ले चलेंगी। अब मुझे विघ्न-बाधाओं वाले मार्ग पर नहीं चलना होगा, अब जीवन फूलों की सेज होगा।...

अब तक के मेरे पूरे जीवन के अनुभवों ने मुझे सिखाया है कि मैंने जिस वस्तु की भी प्रबलता से इच्छा की है, वह मुझे मिली है; और इसके लिए मैं ईश्वर को धन्यवाद देता हूँ। कभी-कभी काफी कष्ट भोगने के बाद, पर कोई बात नहीं! सब कुछ पुरस्कार की मधुरता में भूल जाता है।[५८]

पेरिस, २२ अक्तूबर, १९०० : बन्दूक के लिए प्रसिद्ध श्री मैक्सिम की मेरे प्रति काफी रुचि है और वे चीन तथा चीनियों के बारे में अपनी पुस्तक में मेरे अमेरिकी कार्य के बारे में भी कुछ लिखना चाहते हैं।... कैनन हावेस (रेवरेंड

हिउ रेजिनाल्ड हावेस) भी इंग्लैंड में मेरे कार्य की जानकारी रखते हैं।... सम्भव है कि जगदम्बा अब अन्तर्राष्ट्रीय कार्य की मेरे मूलभूत योजना को रूपायित करें।...

मेरे इस शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य में गिरावट के बाद, लगता है कि अब उस ओर – बृहत्तर तथा अधिक अन्तर्राष्ट्रीय कार्य का मार्ग खुल जायगा। यह सब माँ ही ठीक-ठीक जानती हैं।

मेरा पूरा जीवन पतन तथा उत्थान की एक शृंखला में बँटा हुआ है – और इस कारण मेरा विश्वास है कि ऐसा ही सबके जीवन में होता है। न आने की अपेक्षा, इन पतनों के आगमन से मैं खुश होता हूँ। मैं यह सब कुछ समझता हूँ, तो भी कष्ट पाता हूँ, बड़बड़ाता हूँ और नाराज हो उठता हूँ। सम्भवत: यह अगले उत्थान के कारण का एक अंश है।[५९]

हमारे देश में एक कहावत है – पैर में चक्र रहा, तो आदमी घुमक्कड़ होता है। मेरे पैर में शायद चक्र-ही-चक्र हैं। 'शायद' इसलिए कहता हूँ कि पैरों के तलवे देखकर मैंने चक्रों का आविष्कार करने की बड़ी चेष्टा की, पर चेष्टा बिल्कुल विफल हो गयी – मारे जाड़े के पैर फट गये थे – उससे अक्र-चक्र कुछ भी न दिखलायी पड़े। खैर, किम्वदन्ती है, तो मान लिया कि मेरा पैर चक्रमय है। फल तो प्रत्यक्ष है – इतना सोचा कि पेरिस में बैठकर कुछ दिन फ्रांसीसी भाषा, सभ्यता आदि पर चर्चा कर सकूँगा। पुराने यार-दोस्तों को छोड़ एक गरीब फ्रांसीसी नवमित्र के यहाँ जाकर ठहरा, (वे अंग्रेजी नहीं जानते और मेरी फ्रांसीसी बड़ी असाधारण थी!)

इच्छा थी कि गूँगे की भाँति बैठा रहूँगा। मजबूरन फ्रांसीसी बोलनी पड़ेगी और शीघ्र ही मैं उस भाषा में पारंगत हो जाऊँगा; परन्तु उसकी जगह मैं इस समय वियना, तुर्की, यूनान, मिस्र, येरुसलेम की यात्रा पर हूँ... ।...

साथ में तीन साथी हैं – दो फ्रांसीसी और एक अमेरिकी। अमेरिकी हैं मिस मैक्लाउड, फ्रांसीसी पुरुष मित्र हैं फ्रांस के एक प्रतिष्ठित दार्शनिक तथा साहित्यकार मोशियो जूल बोआ और फ्रांसीसी महिला-मित्र हैं विश्व-विख्यात गायिका मादमोआजेल काल्वे। ... इनका जन्म बड़ी निर्धनता के परिवेश में हुआ था। ... परन्तु दुख-दारिद्र्य से बढ़कर दूसरा कोई शिक्षक नहीं! बचपन की चरम निर्धनता, अभाव तथा पीड़ा के साथ निरन्तर संघर्ष के द्वारा काल्वे ने यह विजय पायी है; और इसने उनके जीवन में एक अपूर्व सहानुभूति तथा गम्भीरता का भाव ला दिया है। ...

इन लोगों का साथ होने से मुझे विशेष लाभ यह है कि उन एक अमेरिकी महिला को छोड़ बाकी कोई अंग्रेजी नहीं जानता। अंग्रेजी में बातें बिल्कुल बन्द हैं, लिहाजा जैसे भी हो, मुझे फ्रांसीसी में ही सब कहना-सुनना पड़ रहा है। ...

यात्रा का विवरण है – पेरिस से रेल द्वारा वियना; इसके बाद कुस्तुन्तुनिया, इसके बाद जलयान से एथेंस, ग्रीस; इसके बाद भूमध्य-सागर के उस पार मिस्र; इसके बाद एशिया माइनर, येरुसलेम, आदि। ...

पहले मेरी धारणा थी कि ठण्डे देशों के लोग ज्यादा मिर्च नहीं खाते और यह केवल गर्म मुल्कों की बुरी आदत है, पर जैसा मिर्च का खाना हंगरी में शुरू हुआ और रूमानिया, बल्गेरिया आदि में चरम तक पहुँचा, उसके सामने शायद तुम्हारे दक्षिण भारतियों को भी पीठ दिखानी पड़ जाय! ...

दस बजे हम कुस्तुन्तुनिया से रवाना हुए। एक रात-दिन समुद्र में और वह बड़ा शान्त रहा। क्रमश: Golden Horn (सुवर्ण शृंग) और मारमोरा। मारमोरा के एक द्वीपपुंज में एक जगह ग्रीक धर्म का एक मठ देखा। ...

संध्या के बाद हम एथेंस पहुँचे। रात भर के 'क्वेरन्टाइन' के बाद सुबह नीचे उतरने की अनुमति मिली। पाइरेयस का बन्दरगाह एक छोटा-सा, पर बड़ा सुन्दर नगर है। ...

चौथे दिन दस बजे हम मिस्र जाने के लिये रूसी स्टीमर 'जार' पर चढ़े। घाट पर आने पर सुना कि स्टीमर चार बजे छूटेगा। हम या तो समय के पहले चले आये थे, या माल आदि उठाने में देर होनेवाली थी। बाध्य होकर ई.पूर्व ५७६ से ४८६ में आविर्भूत एजेल्दस तथा उनके तीन शिष्यों फिडयस, मेरॉन तथा पॉलीक्लेटस की शिल्प-कला से थोड़ा परिचय कर आया। अभी से खूब गर्मी लग रही थी।[६०]

पोर्ट टेवफिक, २६ नवम्बर, १९०० : स्टीमर आने में देरी थी, अत: मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ। भगवान को धन्यवाद कि आज सुबह जहाज ने पोर्ट सईद बन्दरगाह से नहर में प्रवेश किया। तात्पर्य यह कि यदि सब कुछ ठीक रहा, तो यह शाम को किसी समय पहुँचेगा।

वैसे ये दो दिन एकाकी कारावास जैसे रहे; और मैं किसी प्रकार धैर्य धारण किये हुए हूँ। कहते हैं कि बदलाव मन को बड़ा प्रिय है। मि. गेज के एजेंट ने मुझे सारे गलत निर्देश दिये थे। पहली बात तो यह कि स्वागत करना तो दूर, यहाँ कोई भी मुझे कुछ बताने वाला नहीं था। दूसरी, मुझे यह नहीं बताया गया था कि स्टीमर के लिए मुझे एजेंट के दफ्तर में जाकर अपना गेजवाला टिकट बदलवाना पड़ेगा और वह दफ्तर स्वेज में है, यहाँ नहीं। अत: स्टीमर का विलम्ब से आना एक तरह से यह अच्छा ही हुआ। अत: मैं स्टीमर के एजेंट से मिलने गया और उसने मुझे गेज के पास को बाकायदा एक टिकट में बदल लेने के लिए कहा।

आज रात किसी समय मैं स्टीमर पर सवार होऊँगा। मैं कुशल से हूँ, प्रसन्न हूँ और इस मौज का खूब रसास्वादन कर रहा हूँ।[६१] **(सन्दर्भ सूची – अगले पृष्ठ पर नीचे)**

नि:स्वार्थता की शक्ति

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

हमें ऐसा लगता है कि स्वार्थपरता ही हमारी क्रियाओं को गति देती है; नि:स्वार्थपरता में हमें ऐसा कोई तत्त्व नहीं दिखाई देता, जो हमें गतिशील बनाए। पर वास्तव में बात उल्टी है। यह सही है कि सामान्यत: मनुष्य स्वार्थ से ही परिचालित होकर कर्म करता है, तथापि यह भी सही है कि संसार में जो महत् कार्य महान् पुरुषों द्वारा हुए हैं, उन सबके पीछे नि:स्वार्थता की ही शक्ति रही है। तभी तो स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "नि:स्वार्थता अधिक लाभदायक होती है, परन्तु लोगों में उसका अभ्यास करने का धैर्य नहीं है।" उनकी दृष्टि में हम नि:स्वार्थ होकर दूसरों की भलाई का जो प्रयत्न करते हैं, वह वास्तव में अपने आपको भूल जाने का ही प्रयास है। यह अपने आपको भूल जाना एक ऐसा बड़ा सबक है, जिसे हमें अपने जीवन में सीखना है। मनुष्य मूर्खतापूर्वक सोचता है कि स्वार्थ सिद्धि के द्वारा वह अपने को सुखी बना सकता है, पर वर्षों बाद अन्त में वह कहीं समझ पाता है कि सच्चा सुख स्वार्थ के नाश में है और उसे अपने आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी सुखी नहीं बना सकता।

स्वामीजी तो स्वार्थ को ही अनैतिकता समझते हैं और स्वार्थहीनता को नैतिकता। उनके मतानुसार मनुष्य का पूरा जीवन देने के लिए ही है। वह भले ही संग्रह करके रखना चाहे, पर प्रकृति उसे देने के लिए विवश कर देती है; इसलिए वे कहते हैं कि जब जीवन का सत्य यही है, तब तुम अपनी खुशी से क्यों नहीं दे देते? तुम मुट्ठी बाँधे हाथ से बटोरना चाहते हो, पर प्रकृति तुम्हारी गर्दन दबाती है और तुम्हारे हाथ खुल जाते हैं। तुम्हारी इच्छा हो या न हो, तुम्हें देना ही पड़ता है। जैसे ही तुम कहते हो – 'मैं नहीं दूँगा', एक घूँसा पड़ता है और तुम्हें चोट लगती है। ऐसा कोई नहीं है, जिसे अन्त में सब कुछ त्यागना न पड़े।

स्वामी विवेकानन्द नि:स्वार्थता को ही धर्म की कसौटी मानते हैं। उनकी दृष्टि में जो जितना अधिक नि:स्वार्थी है, वह उतना ही धार्मिक, आध्यात्मिक और शिव के समीप है। दूसरों के लिए अपने जीवन को खपा देने की प्रेरणा देते हुए, हमें एक नया दृष्टिकोण प्रदान करते हुए वे कहते हैं, "देखो, मनुष्य अल्पायु है और संसार की सब वस्तुएँ वृथा तथा क्षणभंगुर हैं; पर वे ही जीवित हैं, जो दूसरों के लिए जीते है; शेष सब तो जीवित की अपेक्षा मृत ही अधिक हैं।" यह हम न भूलें कि विकास ही जीवन और संकोच ही मृत्यु है। इसलिए प्रेम ही जीवन का मूलमंत्र है। प्रेम करने वाला ही जीता है और स्वार्थी मरता रहता है। प्रेम के अभाव में आज संसार के सब धर्म प्राणहीन एवं परिहास की वस्तु हो गये हैं। संसार को उनकी आवश्यकता है, जिनका जीवन उत्कट प्रेम तथा नि:स्वार्थता से पूर्ण है। ऐसा प्रेम प्रत्येक शब्द को वज्रवत शक्ति प्रदान करता है।

स्वामी विवेकानन्द ने मद्रास के अपने भक्तों को अमेरिका से एक पत्र में लिखा था, "दुखियों के दु:ख का अनभुव करो और उनकी सहायता करने को आगे बढ़ो, भगवान तुम्हें सफलता देंगे ही। मैंने अपने हृदय में इस भार को और मस्तिष्क में इस विचार को रखकर बारह वर्ष तक भ्रमण किया। मैं तथाकथित बड़े और धनवान् लोगों के दरवाजों पर गया। वेदना-भरा हृदय लेकर और संसार का आधा भाग पार कर, सहायता प्राप्त करने के लिए मैं इस अमेरिका देश में आया। ईश्वर महान् है। मैं जानता हूँ कि वह मेरी सहायता करेगा। मैं इस भूखण्ड में शीत से या भूख से भले ही मर जाऊँ, पर हे तरुणो, मैं तुम्हारे लिए एक वसीयत छोड़ जाता हूँ; और वह है यह सहानुभूति – गरीबों, अज्ञानियों और दुखियों की सेवा के लिए प्राणपण से चेष्टा!"

स्वामीजी ने नि:स्वार्थ बनने के लिए देश की तरुणाई का आह्वान किया था। कहा था – बहुत सारे जन्मों में अपने लिए तो जी ही चुके हो, क्यों नहीं यह एक जन्म दूसरों के लिए जीते। प्रयोग के तौर पर ही सही, यह जन्म दूसरों के लिए तो बिताकर देखो। आज हमारी यह मातृभूमि तुम जैसे कुछ सौ लड़कों का बलिदान चाहती है, जो अपने स्वार्थ को तिलांजलि दे अपना जीवन उसके चरणों में समर्पित कर दें। ऐसी नि:स्वार्थता जीवन को धन्य बना देती है। ❑❑❑

पिछले पृष्ठ का शेषांश

सन्दर्भ-सूची – ५३. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, पृ. ३५२-५३; **५४.** वही, खण्ड ८, पृ. ३५४; **५५.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. १४८-४९; **५६.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, पृ. ३४९; **५७.** वही, खण्ड १०, पृ. ११०; **५८.** वही, खण्ड ८, पृ. ३६०-६१; **५९.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. १४९; **६०.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, पृ. २००-०४; **६१.** वही, खण्ड ८, पृ. ३६२

❖ (क्रमशः) ❖

धर्म-जीवन का रहस्य (४/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. में विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'धर्म' विषयक जो प्रवचन हुए थे, 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

हमारे शास्त्रों में धर्म की बड़ी महिमा गाई गई है, पर धर्म के विरुद्ध तर्क और शंकाएँ भी कम नहीं हैं। बहुत-से लोग धर्म को ही सारे संघर्षों का कारण मानते हैं, उनकी बात तो अलग है ही, पर जो लोग धर्म को इस दृष्टि से नहीं देखते, वे भी कभी-कभी धर्म के विषय में संशयग्रस्त हो जाते हैं। उन्हें भी लगने लगता है कि धर्म की जो महिमा बताई गई है, वह कहाँ तक सच है ! ऐसे अवसर तब आते हैं, जब उन्हें जीवन में कष्टों की अनुभूति होती है और वे सोचते हैं कि हमारा आचरण तो धर्मयुक्त है। तो धर्म के द्वारा हम ईश्वर के पास पहुँचते हैं या धर्म हमें ईश्वर से दूर करता है?

श्रीराम साक्षात् ईश्वर हैं और धर्म के नाम पर उन्हें जीवन से दूर कर दिया गया, उन्हें वनवासी बना दिया गया। तो वह सत्य भला कैसे सत्य हो सकता है, जो हमें ईश्वर से दूर कर दे? अत: भरतजी स्पष्ट शब्दों में पूछते हैं कि धर्म का परिणाम क्या यही होना चाहिये? –

पितु सुरपुर सिय रामु बन करन कहहु मोहि राजु
एहि ते जानहु मोर हित कै आपन बड़ काजु ।। २/१७७

भरतजी ने धर्म को लेकर जो प्रश्न प्रस्तुत किया, वह वस्तुत: हमारे इतिहास और पुराण के अनेक प्रसंगों में, कई सांकेतिक रूपों में प्रस्तुत किया गया है। भगवान कृष्ण के सन्दर्भ में भी सत्य को लेकर एक प्रश्न उपस्थित हुआ। कंस ने जब आकाशवाणी से सुना कि इस देवकी के गर्भ से जो आठवाँ पुत्र होगा, उसी के द्वारा मेरा वध हो जायगा, तो उसे लगा कि यदि मैं देवकी को ही मिटा दूँ, तो इस समस्या से मैं सहज ही मुक्त हो जाऊँगा और वह देवकी का वध करने को तैयार हो जाता है। वसुदेवजी ने उसे शान्त करने हेतु उससे आग्रह किया – आपको भय तो केवल मेरे आठवें पुत्र से है और आप जानते हैं कि मैं सत्यवादी हूँ, तो मैं आपको वचन देता हूँ कि देवकी के गर्भ से जो भी पुत्र उत्पन्न होंगे, वे सब मैं आपको सौंप दूँगा। उन्होंने सचमुच सत्य की उस अर्थ में रक्षा की। जो पुत्र हुए उनको उन्होंने कंस के सामने प्रस्तुत कर दिया और कंस ने उनका वध कर डाला। किन्तु जब भगवान कृष्ण का प्राकट्य हुआ, तब क्या वे अपने उस सत्य की रक्षा कर सके? यदि उन्होंने कंस को वचन दिया था कि 'मैं सभी पुत्रों को सौंप दूँगा', तो उस सत्य की रक्षा के लिये श्रीकृष्ण को भी कंस के हाथों में सौंप देना चाहिये था, तभी तो वे सत्यवादी माने जाते, किन्तु ऐसा तो नहीं हुआ। और उन्होंने भी जो किया, वह अपने मन से नहीं किया। श्रीमद्-भागवत में उस प्रसंग में जो स्तुति की गई है, वह बड़ी विलक्षण है। इसमें सत्य के लिये अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया है और बार-बार कहा गया कि आप साक्षात् सत्य के घनीभूत रूप हैं, मैं आपको नमन करता हूँ, आपकी शरण में जाता हूँ। उसमें कहा गया है –

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहित च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यमृत-सत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्ना: ।। १०.२.२६

भगवान कृष्ण साक्षात् सत्य हैं। उन्होंने स्वयं वसुदेव को आदेश दिया कि वे रात के समय उन्हें लेकर गोकुल चले जायँ और यशोदा के बगल में सुलाकर, वहाँ जिस कन्या का जन्म हुआ है, उसे ले आएँ। बड़ी अद्‌भुत बात ! यदि यह सत्य का त्याग है, तो इसके लिये प्रेरित स्वयं भगवान ने किया ! यहाँ भी वही अभिप्राय है कि सत्य के दो रूप हैं – एक व्यावहारिक सत्य और दूसरा पारमार्थिक। पारमार्थिक सत्य तो केवल ईश्वर ही है। हम लोग जब सृष्टि में व्यवहार करते हैं, उसमें सत्य के लिये जो मापदण्ड है, वह व्यावहारिक दृष्टि से ठीक ही है, उसका पालन किया जाना चाहिये। परन्तु एक पारमार्थिक सत्य भी है – तीनों काल में न बदलने वाला सत्य। व्यावहारिक सत्य तो देश-काल-व्यक्ति-सापेक्ष है। देश के सन्दर्भ में भी – जिसे आप एक देश में सत्य मानते हैं, दूसरे देश के सन्दर्भ में वह सत्य नहीं है। फिर आप प्रकृति के नियमों में देखिये, जब आप घड़ी देखते हैं और जब आपसे पूछा जाता है कि इस समय कितने बजे हैं, तब आप जो समय बताते हैं, उसे आप सत्य ही कहेंगे और व्यवहार में वह सत्य भी है, पर आपको भलीभाँति ज्ञात है कि उसी समय सारे विश्व के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न समय हुआ होगा। अत: व्यवहार में हम जिसे सत्य मानते हैं, वह सापेक्ष सत्य है और व्यवहार में उसका महत्त्व है।

परन्तु जब हम पारमार्थिक सत्य को जानना चाहते हैं, पाना चाहते हैं, तब व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्यों में से किसी एक को चुनने का प्रसंग आता है। यदि वसुदेवजी शुरू से ही पुत्रों को छिपा लेते, न देने की चेष्टा करते, तो व्यावहारिक अर्थों में वह ठीक ही था कि वे पुत्रों की ममता के कारण दिये गये वचन से मुकर गये। किन्तु एक सीमा के बाद जब परमार्थ-सत्य का बोध होने के बाद व्यावहारिक सत्य का महत्त्व नहीं रह गया, व्यावहारिक सत्य की अपेक्षा नहीं रह गई, इसीलिये मानो भगवान ने वसुदेव के माध्यम से यह बताने की चेष्टा की कि व्यावहारिक सत्य का उद्देश्य वस्तुत: पारमार्थिक सत्य को पाना है। सत्याभिमान एक बड़ी सूक्ष्म बात है। व्यावहारिक सत्य बहुधा व्यक्ति को सत्याभिमानी बना देता है। जो लोग नियमपूर्वक सत्य बोलते हैं, उनको बहुधा यह गर्व होता है कि मैं तो निरन्तर सत्य ही बोलता हूँ, असत्य कभी नहीं बोलता। अस्तु।

धर्म का पालन करने के लिये भी, प्रारम्भ में हमें किसी-न-किसी तरह का अभिमान स्वीकार करना ही पड़ता है। उसमें भी एक क्रम है – तमोगुणी अभिमान, रजोगुणी अभिमान और सात्त्विक अभिमान। हनुमानजी ने रावण से कहा था कि तुम तमोगुणी अभिमान का त्याग करके रजोगुणी अभिमान को पकड़े रहो। यह बिल्कुल ठीक है। यह वैसे ही है, जैसे कोई व्यक्ति निद्रा और आलस्य में पड़ा हुआ है और उसे जगाकर कर्म की दिशा में प्रेरित कर दिया गया। उसे तमोमयी स्थिति से उठाकर कर्म के लिये रजोमयी स्थिति में लाया गया। व्यक्ति जब रजोगुण के द्वारा कर्म करता है, तो रजोगुणी अभिमान के द्वारा उसके द्वारा अनेक कर्म सम्पन्न होते हैं, बड़े-बड़े निर्माण होते हैं। इसके बाद व्यक्ति को और भी ऊपर उठाने के लिये धर्म के द्वारा जीवन में रजस् से भी ऊपर उठाकर सत्त्व के अभिमान में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की जाती है। जब किसी में जाति का अभिमान, वर्ण का अभिमान, कुल का अभिमान उत्पन्न किया जाता है, तो उस अभिमान का तात्पर्य वस्तुत: यह नहीं है कि अभिमान ही चरम साध्य है। जब किसी के अन्त:करण में यह गर्व भरने की चेष्टा की गई कि 'अरे, तुम तो ब्राह्मण हो', तो उसका अभिप्राय यह नहीं है कि व्यक्ति के ब्राह्मणत्व का अभिमान ही उसके जीवन का लक्ष्य हो। बल्कि जब उसमें ब्राह्मणत्व का अभिमान उत्पन्न किया गया, तो उसकी प्रशंसा के साथ-साथ उस पर उतना ही बोझ भी लाद दिया जाता है। श्रीमद्-भागवत में कहा गया है कि ब्राह्मण का शरीर – साधारण वस्तुओं, तुच्छ भोगों को पाने के लिये नहीं मिला है –

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्र-कामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्त-सुखाय च ।।११.१७.४२

इस प्रकार का यह सात्त्विक अभिमान है, चाहे वह पूजा का हो या पाठ का, या अन्य किसी प्रकार की क्रिया का हो, वह शुरू में व्यक्ति को प्रोत्साहित करता है, पर अन्तत: व्यक्ति को उससे भी मुक्त ही होना है।

वसुदेव ने इतने दिनों तक जिस सत्य का पालन किया था, भगवान मानो उन्हें उस सत्याभिमान से भी मुक्त करना चाहते हैं। कंस मूर्तिमान देहाभिमान है। उनका संकेत यह है कि क्या तुम कंस से सत्यवादी होने का प्रमाणपत्र पा लेना ही जीवन में सबसे ऊँची स्थिति मानते हो? तुम मुझे ले जाकर कंस को दोगे, तो वह तुम्हें प्रमाण दे देगा कि हाँ, तुम बड़े सत्यवादी हो। वे प्रारम्भ से ही शिक्षा दे रहे थे कि सत्य का प्रमाणपत्र तुम मुझसे लोगे या कंस से? कंस से लेना हो, तो भी ठीक है। क्या तुम्हें कंस से प्रशंसा चाहिये कि वाह, तुम कितने बड़े सत्यवादी हो। प्रारम्भ में कंस ने यही किया भी। देवकी को जब पहला पुत्र उत्पन्न हुआ और वसुदेव ने उसे ले जाकर जब कंस को सौंपा, तो वह बड़ा गद्‌गद् हो गया। ऐसा नहीं है कि बुरे लोग कभी गद्‌गद् या भावविभोर न होते हों। उसने वसुदेवजी की बड़ी प्रशंसा की – "वाह-वाह, आप कितने बड़े सत्यवादी हैं, कितने साधु पुरुष हैं, आपने कैसे ममता का त्याग कर दिया है। और जब आपने इतनी उदारता दिखाई है, तो मैं क्या इतना कठोर हूँ, जो इस पुत्र का वध करूँगा? इसे वापस ले जाइये।" वसुदेव पुत्र को लेकर वापस लौट रहे थे, तो उनके मन में यह बात जरूर आई होगी कि कंस भी तो उदार ही है, क्योंकि उदारता के कारण ही तो उसने यह पुत्र लौटा दिया।

परन्तु अब सन्त की भूमिका सामने आ गई, जो देखने में बड़ी अटपटी थी। नारदजी आकर कंस से पूछते हैं – तुमने वसुदेव का पुत्र उन्हें लौटा क्यों दिया? वह बोला – महाराज, जब उसने सत्य की रक्षा करने के लिये अपना पुत्र लाकर दे दिया और मुझे उसके उस पुत्र से भय नहीं है, तो उसे लौटा देना ही तो उचित था। अब कौतुकी सन्त ने एक कमल का पुष्प हाथ में लिया और कहा – बताओ, इस कमल में आठवीं पंखुड़ी कौन-सी है? स्वाभाविक रूप से कमल में आप चाहे जहाँ से पंखुड़ी गिनना शुरू करें और चाहे जहाँ आठवाँ सिद्ध कर दीजिये। वे बोले, "न जाने देवताओं ने कहाँ से आठवाँ गिना है ! यह भी तो हो सकता है कि यही आठवाँ हो ! वे लोग उधर से आठवाँ गिन रहे हों और तुम इधर से गिन रहे हो, ऐसा ठीक नहीं है।"

सन्त क्या चाहते थे? उनका उद्देश्य क्या था? सन्त क्या निर्दय हो सकते हैं? कंस ने छोड़ दिया था और नारदजी उसे मारने के लिये प्रेरित कर रहे हैं। उनका अभिप्राय यह था कि यदि वसुदेव को सचमुच ही यह भ्रान्ति हो गई कि कंस भी उदार है, उसके जीवन में भी दया-सहिष्णुता है, अर्थात् बुराई में भी अच्छाई दिखाई देने लगे, तो बुराई कभी नहीं छूटेगी।

अधिकांश लोगों के जीवन में यही समस्या होती है। क्रोध आने पर कहेंगे – क्रोध बुरा तो है, पर हमारा क्रोध आवश्यक है, क्योंकि वह उचित अवसर पर होता है। ऐसी दशा में व्यक्ति कभी क्रोध को छोड़ने का प्रयास ही नहीं करेगा। तो सन्त नारदजी बताना चाहते थे कि कंस में तुम्हें जो उदारता दिखाई देती है, यह तो उसका एक क्षणिक और नकली रूप है। यह उदारता कभी भी हिंसा में परिणत हो जायगी, अभी देख लो और कंस ने सचमुच वही किया।

भगवान मानो वसुदेव को यह बताना चाहते थे कि जब तुमने मुझे पा लिया है, तो अब तुम देहाभिमान रूपी कंस से सत्यवादी कहलाने की चेष्टा मत करो। बल्कि सत्य का परम तात्पर्य तो यही है कि उससे देहाभिमान का नाश हो और देहाभिमान के नाश के लिये, मैं जो कह रहा हूँ उस सत्य की रक्षा करो। तब उन्होंने सचमुच उसी प्रकार व्यावहारिक अर्थों में असत्य का आश्रय लिया और पारमार्थिक अर्थों में साक्षात् सत्य को पाकर उस देहाभिमान में स्थित जो सत्य था, उसे उन्होंने छोड़ दिया।

भक्त लोग इसे जरा दूसरी भाषा में कहते हैं। गीतावली रामायण में भी ऐसा ही आता है और दोनों प्रसंगों में संगति है। जब पुत्र का जन्म होता है, तो उस पर न्योछावर करके दान दिया जाता है, पुत्र के कल्याण हेतु किसी को दे दिया जाता है। वसुदेव को प्रेरणा हुई कि इस कारागार में तो कृष्ण पर न्योछावर करने योग्य कोई वस्तु है नहीं; और फिर संसार में कोई ऐसी वस्तु है भी नहीं, जिसे कृष्ण पर न्योछावर किया जा सके, तो उन्हें लगा कि इतने दिनों तक हमने जिस सत्य का पालन किया है, उसी को न्योछावर करके क्यों न हम यह जन्मोत्सव मनाएँ? इसलिये उन्होंने परम सत्य को पाकर, उस पर अपने सत्य को न्योछावर करके उसे फेंक दिया।

सचमुच धर्म की यह बड़ी गहन – बड़ी सूक्ष्म गति है। भरतजी के प्रश्न का भी यही तात्पर्य है। वह सत्य कैसे हो सकता है, जो श्रीराम को जीवन से दूर कर दे, अयोध्या की प्रजा को अनाथ कर दे, सबको संकट में डाल दे ! यह सत्य नहीं हो सकता। वहाँ एक सूत्र दिया गया है। आज भी लोग इस भ्रान्ति में पड़े रहते हैं। कैकेयी को महान् सिद्ध करने की बड़ी लम्बी-चौड़ी चेष्टा की जाती है। कैकेयी के चरित्र में कई सद्गुण थे, पर इससे यह नहीं सिद्ध हो जाता कि उसके चरित्र में कोई दुर्गुण नहीं था। कैकैयी बड़ी तेजस्विनी थी, बड़ी उदार थी, यह सब है, पर कैकेयी के अन्त:करण में एक ओर सुमति है, तो दूसरी ओर कुमति भी है –

सुमति कुमति सब कें उर रहहीं ।। ५/३९/५

कैकेयी के चरित्र में यदि सुमति थी, तो मन्थरा के द्वारा उनके कुमति को चैतन्य कर दिया गया। गोस्वामीजी कहते हैं – कुसंग पाकर कौन नष्ट नहीं होता ! नीच के मत के अनुसार चलने से किसकी बुद्धि दूषित नहीं हो जाती –

को न कुसंगति पाइ नसाई ।
रहइ न नीच मतें चतुराई ।। २/२४/८

उन्होंने दृष्टान्त दिया कि जब वर्षा होती है, तो उससे धान उगता है, पर साथ ही कीड़े-मकोड़े भी बढ़ जाते हैं, घास-फूस भी बढ़ जाते हैं। उन्होंने कहा – कैकेयी के रूप में विपत्ति बीज है, दासी मन्थरा वर्षा ऋतु है –

बिपति बीजु बरषा रितु चेरी ।। २/२३/५

कैकेयी के अन्त:करण में जो दुर्बुद्धि थी, वह अयोध्या में आकर भी छिपी हुई थी, मन्थरा ने उसे प्रोत्साहित किया। उस कुमति के द्वारा जो कार्य किया गया, उसे इस रूप में देखना कि कैकेयी बड़ी धार्मिक थी, या बड़ी उदार थी, इसलिये ऐसा कार्य कर ही नहीं सकती, राम-चरित-मानस में कैकेयी का जो चरित्र प्रस्तुत किया गया है, उस दृष्टि से यह सही नहीं है। इसीलिए रामायण में भरतजी कैकेयी का बार-बार कुमति कहकर उल्लेख करते हैं –

जननी कुमति जगतु सब साखी ।। २/२६१/१

ऐसी स्थिति में चित्रकूट में एक बड़ा जटिल प्रश्न था। यह एक बहुत बड़ी समस्या है – अच्छा, कैकेयी ने अपने स्वार्थ के लिये सत्य की दुहाई दी होगी, मन्थरा ने केवल अपने असत्य को छिपाने के लिये आवरण के रूप में सत्य का नाम लिया होगा। महाराज श्रीदशरथ ने शायद इस सत्य को संकोचपूर्वक स्वीकार कर लिया होगा। वे निर्णय नहीं कर पाये होंगे, पर भगवान श्रीराम ने यदि उसे सत्य स्वीकार किया, तो भगवान ने जिसे सत्य स्वीकार किया, उसे आप असत्य कहेंगे क्या? इसलिये चित्रकूट में सब चकित थे। तो फिर सत्य क्या है? श्रीराम जो कहते हैं, यदि वही सत्य का अर्थ है, तो एक बात है; पर यदि भरत उसे सत्य स्वीकार नहीं करते, तो ये दोनों महानतम व्यक्ति हैं, इसे हम किस रूप में ग्रहण करें? क्या करें?

उस युग के महानतम लोग वहाँ एकत्र थे और वे एक-दूसरे से मिलकर इस समस्या का समाधान ढूँढ़ने की चेष्टा करते हैं। इसी बीच जब महाराज जनक आ गये, तब लोगों को लगा कि एक ऐसा व्यक्ति आ रहा है, जो हर दृष्टि से इस सन्दर्भ में हमारी सहायता कर सकता है। गुरु वशिष्ठ ने एकान्त में जाकर जनकजी से यह कहा कि आज हम सब लोगों की जो बुद्धि है, उससे हम स्वयं को उलझन में अनुभव कर रहे हैं। आप महान् ज्ञानी हैं। इस युग में तो आप से बढ़कर कोई इसका निर्णायक नहीं हो सकता –

ग्यान निधान सुजान सुचि धरम धीर नरपाल ।
तुम्ह बिनु असमंजस समन को समरथ एहि काल।२/२९१

गुरु वशिष्ठ ने जो कहा वह एक बड़े महत्त्व का पक्ष है तथा समझने योग्य है और वह यह है कि क्या एक व्यक्ति के धर्म की रक्षा दूसरे को अधार्मिक बनाकर होगी? कृपया इस पर ध्यान दें – आपने कोई बात कही और आप कहते हैं कि मैं सत्यवादी हूँ, अत: ऐसा ही करना पड़ेगा। अब दोनों व्यक्ति यदि कहें कि मैं सत्यवादी हूँ और मेरा वचन झूठा नहीं होना चाहिये, तो यह तो बड़ी सरलता से आप समझ सकते हैं कि एक झूठा सिद्ध होने पर ही तो दूसरा सत्यवादी सिद्ध होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि एक व्यक्ति को असत्यवादी सिद्ध करके दूसरा व्यक्ति स्वयं को सत्यवादी सिद्ध करे। तो क्या किसी एक व्यक्ति को धर्म से जोड़कर हम उसे धार्मिक माने? क्या यह धर्म की सही व्याख्या है?

वैसे तो जब धर्म की व्याख्या की गई तो स्वधर्म का प्रयोग बार-बार गीता में भी कहा गया। राम-चरित-मानस में भी अपने-अपने धर्म की बात कही गयी है –

प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती।
निज निज कर्म निरत श्रुति रीती ।। ३/१५/६

निज-निज धर्म कहने का अर्थ है व्यक्तिपरक धर्म। कभी-कभी कहा गया कि व्यक्ति को अपने धर्म की रक्षा करनी चाहिये। पर जब दूसरे के धर्म को मिटा करके भी अपने धर्म की रक्षा की जाती है, तो वह धर्म की रक्षा हुई या अभिमान की? बस, यही सूक्ष्म प्रश्न है। यहाँ सूत्र यह है कि धर्म का श्रीगणेश भले ही इस 'स्व' से हो, क्योंकि जब आप साधना प्रारम्भ करेंगे, तो अपने से ही तो करेंगे; पर सच्चे अर्थों में धर्म का उद्देश्य है – सबके धर्म की रक्षा होनी चाहिये। गुरु वशिष्ठ का शब्द है – सबके धर्म का पालन हो –

महाराज अब कीजिअ सोई।
सब कर धरम सहित हित होई ।। २/२९०/८

कोई व्यक्ति ऐसा अनुभव न करे कि अरे, हमारा धर्म चला गया और दूसरा व्यक्ति धर्मात्मा बन गया। ऐसी कृपा कीजिये कि एक भी व्यक्ति ऐसा अनुभव न करे कि हमको अपने धर्म का त्याग करना पड़ा। केवल धर्म ही नहीं, उसके साथ ही सबका हित भी हो।

रामायण में दो शब्दों का प्रयोग किया गया है – 'सुख' और 'हित'। धर्म के द्वारा कभी कष्ट की अनुभूति हो सकती है या नहीं? धर्म का पालन करने वाले के जीवन में कभी संकट आ सकता है या नहीं? इसका उत्तर यह है कि 'सुख' और 'हित' – दो भिन्न वस्तुएँ हैं। जो वस्तु हमें 'प्रिय' लगती है, उसे हम 'सुख' की संज्ञा देते हैं। कोई वस्तु स्वादिष्ट भी है और साथ-साथ शरीर के लिये अच्छी भी है, तब तो वह ठीक ही है, उसे प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करेगा। परन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि शरीर में रोग है और उसे मिटाने के लिये कड़वी दवा दी जाती है, तो दवा कड़वी होने के कारण त्याज्य हो जायगी? इसका सीधा-सा अर्थ है कि यदि कड़वी दवा से हमारे रोग का नाश होता है, तो कड़वी दवा भी ग्राह्य है। तो धर्म की कसौटी यह है कि उसके द्वारा यदि कभी जीवन में दु:ख आये और कभी सुख आये, तो सुख तो ठीक ही है, उसे तो प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करेगा। परन्तु धर्म के द्वारा यदि सुख के स्थान पर दु:ख ही आ जाय और वह दु:ख यदि दवा के रूप में आये, यदि उस दु:ख से व्यक्ति का जीवन और भी अधिक उज्ज्वल हो; जैसे सोने को अग्नि में डालें तो उसमें और भी उज्ज्वलता आती है; तो ऐसा दु:ख ग्राह्य है, स्वीकार करने योग्य है। औषधि कड़वी होते हुए भी ग्राह्य है। तो धर्म का अर्थ यह नहीं मान लेना चाहिये कि जब व्यक्ति धार्मिक होगा, तो वह जो चाहेगा वही होगा, उसे जो सुखप्रद लगेगा, वही होगा। पर एक कसौटी अवश्य है कि यदि उसके जीवन में दु:ख भी होगा, तो वह उसके लिये कल्याणकारी और प्रेरणादायी होगा। दु:ख पाप के द्वारा भी हो सकता है और पुण्य के द्वारा भी हो सकता है। तो यह कैसे पता चलेगा कि यह दु:ख पाप का परिणाम है या पुण्य का? इसकी एक कसौटी है। यदि वह दु:ख पुण्य का परिणाम होगा तो वह हमें उज्ज्वल बनायेगा, हमारी बुराइयों को दूर करेगा। और यदि वह दु:ख पाप का परिणाम होगा, तो वह दु:ख हमें निराशा के गर्त में ढकेलते हुए और भी नीचे की ओर ले जायगा। अत: हित ही धर्म की कसौटी होनी चाहिये। यही गुरु वशिष्ठ का तात्पर्य है। उन्होंने कहा – आप निर्णय देते समय केवल यह न मानकर चलें कि मैं जो कह रहा हूँ वह सबको प्रिय लगेगा या नहीं, अपितु जिसमें सबका हित हो, उसी दृष्टि से आप निर्णय दीजिये। तो ये दो महान् सूत्र हैं – 'धर्म' और 'हित'।

यहाँ एक बात ध्यान देने की है – आप व्यक्ति के दोष से धर्म को दोषी मत बना दीजिये। यदि लोग धर्म के नाम पर लड़ते हैं, संघर्ष करते हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं कि इसके लिये धर्म दोषी है। इतिहास में ऐसा भी हुआ है। इसे लेकर अनेक देशों में इसी बात को लेकर अनेक राजनैतिक प्रयोग किये गये हैं कि यदि धर्म अनर्थ का हेतु है, तो धर्म को समाज से मिटा दिया जाय। धर्म को मिटाने की चेष्टा की गयी, पर उससे भी संघर्ष नहीं रुका, बुराई नहीं रुकी, तो इससे स्पष्ट सिद्ध हो गया कि इन सबके लिये धर्म को दोषी मानना गलत है। यदि धर्म के द्वारा किसी विपरीत परिणाम की सृष्टि होती प्रतीत होती है, तो वह व्यक्ति की अपनी दुर्बलता होती है, या उसके अपने दोषों के कारण धर्म का विकृत रूप सामने आता है। इसे ऐसे कहा जा सकता है – यदि कोई दूध की प्रशंसा करे, तो वह उचित ही है, पर दूध को यदि गन्दे बर्तन में ले जाया जाय और वह फट जाय, तो दोष दूध का नहीं, बर्तन का है। इसी प्रकार

यदि धर्म किसी व्यक्ति या समाज के द्वारा विकृत रूप में सामने लाया जाय, तो इसके लिये वस्तुत: वह व्यक्ति या समाज दोषी है, न कि धर्म।

रामायण में हमारे सामने विविध पात्रों का चरित्र प्रस्तुत किया गया और इस बात को समझने की चेष्टा की गई है – विशेष रूप से प्रतापभानु के सन्दर्भ में तो यह बात बारम्बार और बड़े-बड़े बुद्धिमान व्यक्तियों द्वारा भी पूछी जाती है। उनका कहना है कि प्रतापभानु जब इतना बड़ा पुण्यात्मा था, इतना बड़ा धर्मात्मा था; और उसने अनजाने में कोई भूल कर दी, तो क्या इसका उसे इतना बड़ा दण्ड मिलना चाहिये था? प्रतापभानु जैसा धर्मपरायण व्यक्ति दसमुख रावण कैसे बन गया? इसमें दोष धर्म का नहीं है। जिस कारण प्रतापभानु की ऐसी दशा हुई, उसका कारण उसके चरित्र में विद्यमान है। उसी पर थोड़ी दृष्टि डालें।

प्रतापभानु ने सारे विश्व को परास्त कर दिया और चक्रवर्ती सम्राट् बन गया। उसने मान लिया कि मैंने क्षत्रिय-धर्म और राजधर्म का पालन किया है। यह धर्म के अनुकूल है। इसके बाद उसने यज्ञ किया। यहाँ एक बड़ा विलक्षण सूत्र आता है। यज्ञ के प्रारम्भ में संकल्प लिया जाता है। संकल्प का अभिप्राय है कि आप जो यह कर रहे हैं, इसके द्वारा आप क्या पाना चाहते हैं? किस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये आप ऐसा कर रहे हैं? पण्डितों द्वारा विधि-विधान के साथ यह बताया जाता है कि मैं इस इच्छा की पूर्ति के लिये या इस वस्तु की प्राप्ति के लिये यज्ञ कर रहा हूँ। प्रतापभानु ने जब यज्ञ किया और ऋषि-मुनियों ने पूछा कि आप यह यज्ञ किस कामना की पूर्ति के लिये कर रहे हैं? तो प्रतापभानु ने कहा – मेरे जीवन में कोई कामना नहीं है। मैं निष्काम भाव से यज्ञ कर रहा हूँ। – आप यह यज्ञ यदि निष्काम भाव से कर रहे हैं, तो इसे किसको अर्पित कर रहे हैं? वह बोला – यह भगवान को अर्पित है। इसके बाद चारों ओर ख्याति फैल गई कि "प्रतापभानु केवल धर्मपरायण ही नहीं, ज्ञानी और भक्त भी है। उसके जीवन में रंचमात्र कोई कामना नहीं है। वह ज्ञानी है और सारे कर्मों को भगवान के प्रति अर्पण कर रहा है, इसलिये वह महान् भक्त है।" उसे ज्ञानी और भक्त की उपाधि मिली। रामायण में वह पंक्ति मिलती है। गोस्वामीजी के शब्दों में – वेद-पुराणों में जितने प्रकार के यज्ञ बताये गये हैं, राजा प्रतापभानु ने बड़े प्रेम से उन सभी का एक-एक कर हजार-हजार बार अनुष्ठान किया –

जहँ लगि कहे पुरान श्रुति एक एक सब जाग।
बार सहस्र सहस्र नृप किये सहित अनुराग।। १/१५५

उसके मन में कोई फलाकांक्षा नहीं है और वह मन तथा वाणी से जो भी धर्म-कर्म करता था, सब भगवान वासुदेव को अर्पित करता रहता था –

हृदयँ न कछु फल अनुसंधाना।
भूप बिबेकी परम सुजाना।।
करइ जे धरम करम मन बानी।
बासुदेव अर्पित नृप ग्यानी।। १/१५६/१-२

गीता में भी भगवान – निष्काम कर्म का और उसके साथ ही कर्मार्पण का भी उपदेश देते हैं। प्रतापभानु के जीवन में ऐसा ही दिखाई दिया। लोगों से उसको निष्काम कर्मयोगी, महान् ज्ञानी और महान् भक्त की उपाधि मिल गई। परन्तु प्रश्न उठता है कि क्या वह सचमुच ही निष्काम कर्मयोगी था? क्या सचमुच उसके हृदय में फलाकांक्षा नहीं थी? और उसने जो कर्म किये थे, क्या सचमुच उनके फल उसने भगवान को अर्पित किये थे? यहाँ एक बड़ा सूक्ष्म सूत्र है।

निष्कामता और समर्पण – बड़ी उच्चकोटि की वस्तुएँ हैं। यदि हम संसार में प्रसिद्धि या कीर्ति पाने के लिये यह प्रदर्शित करने की चेष्टा करें कि हम तो निष्काम हैं, हम जो कर्म करते हैं, उन्हें भगवान को अर्पित कर देते हैं; तो क्या इतने मात्र से ही वह व्यक्ति सचमुच ही निष्काम या समर्पणकर्ता मान लिया जायगा? आध्यात्मिक अर्थों में, रामायण में इस अवगुण के लिये एक शब्द आया है – 'दम्भ'। प्रतापभानु हमारे सामने एक दम्भी व्यक्ति के रूप में आता है। क्यों? यदि वह सचमुच निष्काम कर्मयोगी होता, तो कपटमुनि के सामने अपनी माँगों का सूचीपत्र क्यों रख देता? तो अकेले में यह सिद्ध हो गया कि उसके मन में बहुत-सी इच्छाएँ भरी हुई हैं, परन्तु वह ऋषि-मुनियों तथा समाज के सामने ऐसा दिखावा करता है, मानो उसे कुछ भी नहीं चाहिये। दम्भी व्यक्ति का यही लक्षण है। दम्भ माने? समाज में जिस गुण की पूजा होती है, उन गुणों के न होते हुए भी यदि हम स्वयं को उनसे युक्त प्रदर्शित करने की चेष्टा करें और ऐसा प्रयास करें कि इसके द्वारा लोग हमको महान् समझकर सम्मान दें, तो यही दम्भ है और यह महानतम दोषों में से एक है।

जब आप विनय-पत्रिका का आनन्द लेंगे, तो आपको लगेगा कि रामायण का आनन्द लेने के लिये भी तो विनय-पत्रिका को पढ़ना परम आवश्यक है। गोस्वामीजी ने विनय-पत्रिका (१५८) में दुर्गणों का बड़ा ही सांकेतिक वर्णन किया है और जो कुछ सूत्र दिये हैं वे बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। एक पद में वे भगवान से कहते हैं – प्रभो, मैं आपको कैसे दोष दूँ। मेरा मन काम-लोलुप होकर इधर-उधर भटक रहा है –

कैसे देऊँ नाथहि खोरि।
काम लोलुप भ्रमत मन हरि भगति परिहरि तोरि।।

और तब उन्होंने अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए कहा – प्रभो, मैं अपने जीवन में जो बुरे कार्य करता हूँ, उसको तो इतना छिपा कर रखता हूँ कि कोई देख न ले; और कभी भले लोगों के संगवश यदि कुछ सत्कर्म हो गया, तो उसे किसी-

न-किसी बहाने दूसरों को सुनाने के लिये व्यग्र रहता हूँ –

किये सहित सनेह अद्य जे हृदय राखे चोरि ।
संग बस किये सुभ सुनाये सकल लोक निहोरि ।। १५८

भगवान ने पूछा – ठीक है, बताओ, तुम कोई अच्छा कार्य भी करते हो या नहीं? बोले – यदि करता भी हूँ, तो प्रदर्शित अधिक करता हूँ और बुराई को छिपाता अधिक हूँ। भगवान बोले – तो भी कुछ पुण्य तो बच ही जाता होगा?

उत्तर में गोस्वामीजी एक उदाहरण देते हैं। वे बताते हैं कि जब खेत में कटनी होती है, तो किसान कटा हुआ अन्न ले जाता है, लेकिन उसमें से कुछ दाने गिरे रह जाते हैं। तो ऐसे गरीब लोग, जिनके पास स्वयं का खेत नहीं है, वे खेत में गिरे हुए उन दानों को एकत्र करते हैं। उसे गाँववाले 'सिला' कहते हैं। बेचारे गरीब लोग उसी को बीनकर घर में ले आते हैं और उसी के द्वारा अपनी भूख मिटाते हुए जीवन निर्वाह करते हैं। गोस्वामीजी ने बड़ी मीठी बात कही। बोले – प्रभो, पुण्य की खेती तो मैं नहीं, दूसरे लोग करते हैं; मैं तो दाने बटोरने वाला, सिला बटोरने वाला बन जाता हूँ –

करौं जो कछु धरौं सचिपचि सुकृत-सिला बटोरि ।।

– चलो, कोई बात नहीं है, दाने बटोरते हो, तो उससे भी तो तुम्हारी भूख मिट ही जायगी।

इस पर गोस्वामीजी ने कहा – प्रभो, यदि कोई व्यक्ति दाने एकत्र करे; और कोई उससे भी बड़ा दरिद्र आकर उसे चुरा ले जाय, तो उस बेचारे की क्या दशा होगी – मेरे जितने पुण्य हैं उसे दम्भ चुराकर ले जाता है –

पैठि उर बरबस दयानिधि दंभ लेत अँजोरि ।। १५८/४

यही दम्भ की जटिलता है। यह दम्भ वस्तुतः समाज में बड़ा वन्दनीय हो जाता है, बड़ा पूज्य हो जाता है।

संस्कृत में 'कला-विलास' नाम का एक ग्रन्थ है। उसमें कहा गया है कि दम्भ को पहचानना साधारण व्यक्ति के लिये तो क्या, ब्रह्माजी तक के लिये कठिन है। उसमें लिखा हुआ है – दम्भ ने इतना सम्मान और पूजा पा ली कि उसे स्वर्ग से भी निमंत्रण मिल गया। व्यंग्य यह है कि संसार में उसे किसी ने नहीं पहचाना, सबने उसकी पूजा की। जब वह स्वर्ग में गया, तो दम्भ के स्वागत में इन्द्र उठकर खड़े हो गये। इन्द्र भी नहीं पहचान सके कि यह दम्भ है। इन्द्र ने कहा – आइये, आइये, आप मेरे इन्द्रासन पर विराजिये। दम्भ बोला – अरे, मैं क्या तुम्हारे इस तुच्छ सिंहासन पर बैठूँ? – महाराज, तो फिर क्या करें? बोला – नहीं नहीं, मैं इस सिंहासन को ठुकराता हूँ। जब कोई बहुत ठुकराने की बात कहे, तो सोचना पड़ता है कि कहीं यह दम्भ तो नहीं है? उसने कहा – मुझे स्वर्ग आदि कुछ नहीं चाहिये। इसके बाद वह सीधे ब्रह्मलोक पहुँच गया। वहाँ जितने भी ऋषि-मुनि थे, वे सब उसे देखकर खड़े हो गये।

इस वर्णन का तात्पर्य यह है कि दम्भ कभी-कभी इतना चमत्कारी होता है कि बड़े-बड़े व्यक्तियों को भी भ्रम हो जाता है। दम्भ को बैठने के लिये ऋषि-मुनियों ने उठकर अपना आसन दिया, परन्तु उसे कोई भी आसन अपने बैठने योग्य नहीं दिखा। तब ब्रह्मा ने कहा – अच्छा, आओ पुत्र, तुम मेरी गोद में बैठ जाओ। वह ब्रह्माजी के पास तो गया, परन्तु जब वह अपने कमण्डलु से जल लेकर ब्रह्माजी के जाँघ पर छिड़कने लगा, तो उन्होंने पूछा – यह क्या कर रहे हो? वह बोला – आपके शरीर को हम पवित्र कर लें, तब न बैठेंगे। ब्रह्माजी बोले – अच्छा! हम तुम्हें पहचान गये। तो तुम दम्भ हो! यहाँ तक तुम कैसे पहुँच गये? कहा जाता है उन्होंने उसे ब्रह्मलोक से ढकेल दिया।

यह तो वर्णन की एक पद्धति है, जिसका तात्पर्य यह है कि यदि कोई सही-सही और सुविचारित दम्भ का आश्रय ले, तो बड़े-से-बड़े लोग भी भ्रम में पड़ जाते हैं।

❖ (क्रमशः) ❖

सांसारिक विषयानन्द का लोभ

आनन्द तीन प्रकार के होते हैं – विषयानन्द, भजनानन्द और ब्रह्मानन्द। कामिनी और कांचन के आनन्द को विषयानन्द कहते हैं। ईश्वर के नाम तथा गुणों का गान करने से होनेवाले आनन्द को भजनानन्द और ईश्वर के दर्शन से होनेवाले आनन्द को ब्रह्मानन्द कहते हैं।... बड़े-बड़े गोदामों में चूहों को पकड़ने के लिए दरवाजे के पास चूहादानी रखकर उसमें लाई-मुरमुरे रख दिए जाते हैं। उसकी सोंधी-सोंधी महक से आकृष्ट हो चूहे गोदाम में रखे हुए कीमती अनाज का स्वाद चखने की बात भूल जाते हैं और लाई-मुरमुरे खाने जाकर चूहादानी में फँसकर मारे जाते हैं। जीव का भी ठीक यही हाल है। कोटि-कोटि विषय-सुखों के घनीभूत समष्टि-स्वरूप ब्रह्मानन्द के द्वार पर निवास करते हुए भी जीव उस आनन्द को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न न करके संसार के क्षुद्र विषय-सुखों में लुब्ध हो माया के फन्दे में फँसकर मारा जाता है।

– *श्रीरामकृष्ण*

सारगाछी की स्मृतियाँ (२१)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुये वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और ब्रह्मचारी बोधमय चैतन्य ने किया है, जिसे विवेक ज्योति के पृष्ठों में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – संपादक)

२-५-१९६०

हमलोग जिस समाज से इस रामकृष्ण विश्वविद्यालय में आये हैं, कैसे यह सम्भव हुआ, इसे मैं सोच नहीं सकता हूँ! क्या पूर्व-जन्म के संस्कारों के कारण? ऐसा क्यों? ऐसा नहीं, वे लोग कृपा करके खींच कर लाये हैं। उन लोगों की कृपा का क्या कोई अंत है! ठाकुरजी ने कहा कि सूई में मिट्टी लगे रहने से चुम्बक नहीं खींचता है। उसे साफ करो अर्थात् मन-बुद्धि को शुद्ध करो, उसके साथ-ही-साथ तुम आकर्षण का अनुभव करोगे। बौद्धिक रूप से जानने से कुछ नहीं होगा। 'लकड़ी में आग है, लकड़ी में आग है, ऐसा कहने से क्या होगा? लकड़ी घीस कर आग जलाओ, उससे भोजन बनाओ, खाओ, सबल बनो, तब तो होगा!

"माँ तो कितने लोगों को दीक्षा दी हैं, किन्तु कहाँ? कितने लोगों के जीवन का विकास हुआ! सिलेट का एक ब्राह्मण जो माँ का दीक्षित था, वह संन्यासी हुआ, किन्तु विवाह करना चाहता है। कौन संन्यासी को लड़की देगा? क्या उस पर माँ की कृपा कम थी? और कृपा क्यों कहूँ, वे तो स्वयं ही सभी रूपों में हैं, सब कुछ बनी हुयी हैं। देखो, किसी को देखकर हँसना नहीं चाहिये। क्या करोगे। वह तो विवश है, उसकी प्रकृति उससे करा रही है। किसी के शरीर में तमोगुण होता है, तो किसी के मन में तमोगुण रहता है। जैसे कोई बहुत कर्म करता है, किन्तु कर्म में ही मोहासक्त हो जाता है। विचार-बुद्धि – विवेक नहीं है और कार्य छोड़कर नहीं रह सकता है। किसी की बुद्धि में तमोगुण रहता है। ऐसा व्यक्ति कुछ भी विचार तथा चिन्तन नहीं करना चाहता है। 'कहिये क्या करना है, कर देता हूँ', ऐसा उसका भाव रहता है। अभी बहुत लोगों में 'अनपेक्ष्य च पौरुषम्' जैसे भाव देखता हूँ,। उसने कार्य प्रारम्भ कर दिया है। उससे पूछो – इस कार्य को आगे कौन बढ़ायेगा?

वह कहेगा – 'यह ठाकुरजी का कार्य है, इसे ठाकुरजी ही करा लेंगे।' ये सब तमोगुण का रजोगुण है।

प्रश्न – सत्त्वगुणी या तमोगुणी कैसे पहचानूँगा?

महाराज – किसी अच्छे संगीत या सुन्दर रमणीय दृश्य के द्वारा परीक्षा करो। सत्वगुणी होने से सचमुच समझ जाओगे। तमोगुणी को नींद आयेगी, वह दृश्य को देख नहीं पायेगा। एक व्यक्ति आता था। मैं उसे आकाश में सुन्दर बादल को देखने के लिये कहता था, तो वह कहता था – कहाँ मैं तो कुछ देख नहीं पा रहा हूँ! वह सत्त्वगुण से तमोगुण में गया है।

प्रश्न – क्या तमोगुण के बाद रजोगुण आता है? क्या कर्म करते-करते सत्त्वगुण में नहीं जा सकते हैं?

महाराज – नहीं, कर्म करते-करते मन में तमोगुण आ जाता है, किन्तु यदि विवेक-विचार रहता है, तो फिर कार्य कम हो जाता है और सत्त्वगुण आ जाता है। पहले हम लोगों को १०-१२ वर्षों तक बहुत कर्म करना है। उसके बाद ध्यान, जप और स्वाध्याय में मन लगाना है। उसके बाद गीता, श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, स्वामी विवेकानन्द साहित्य और इसके साथ उपनिषद् तथा प्रस्थानत्रय का अध्ययन करो। नहीं तो बाद में हंगामा करके व्यर्थ के बकवास में जीवन को बरबाद करोगे और बुढ़ापे में दु:ख पाओगे।

३-५-१९६०

प्रश्न – जैसे श्रीशंकराचार्य जी ने text torturing किया था, मूल पाठ को तोड़-मरोड़कर भाष्य किया था, क्या वैसे ही स्वामीजी के दृष्टिकोण को भी कहा जा सकता है? अर्थात् उन्होंने भी शंकराचार्य के समान युग के अनुरूप, कालोपयोगी बनाकर वेदान्त का प्रचार किया है।

महाराज – श्रीशंकराचार्य जी ने ज्ञान के दर्शन पर बल दिया था। इसलिये उसमें भूल हो सकती है। श्री चैतन्यदेव की केवल भक्ति थी, यद्यपि उनका अन्य दृष्टिकोण भी था, किन्तु प्रमुख विचार एक ही था। श्रीरामकृष्ण ने सबका समन्वय किया। इसीलिये उनको अवतारवरिष्ठ कहते हैं। चैतन्यदेव ने भी तो किसी दूसरे धर्म पर प्रहार नहीं किया। वे अपने भाव में मत्त हो गये थे। ठाकुरजी की पद्धति वैज्ञानिक थी। उनका वैज्ञानिक मनोभाव था। यथार्थ विज्ञान। सब कुछ ठीक करना ही होगा। इसके सिवाय स्वामीजी के विचार अब तक अंतिम हैं, कहना होगा। यदि बाद में कभी स्थान-काल-पात्रविशेष के अनुसार कुछ दूसरे प्रकार से परिवर्तन हो तो, क्या होगा, कह नहीं सकता। हाँ, लेकिन आज तक वे ही अंतिम ऋषि हैं।

५-५-१९६०

गीता के अठारहवें अध्याय का 'विविक्त सेवी लघ्वाशी' श्लोक पढ़ा जा रहा था। उसी प्रसंग में महाराज ने कहा – "संन्यासी की तीन वस्तुयें नहीं रहने से संन्यास नहीं रहता – प्रवचन, आचरण (योग-साधना) और संस्कृति का संरक्षण। लड़कियों और गृहस्थों से सावधान रहना। उनकी उपेक्षा करने का प्रयास करना। उनसे समस्यायें आ सकती हैं। हमलोगों का ऐश्वर्य बढ़ रहा है, इससे गृहस्थ लोग अधिक मिलने-जुलने का अवसर पा रहे हैं। इसलिये संन्यासी के लिये यह संक्रमण काल है, बहुत सचेत नहीं रहने से डूब जाओगे।"

पूजा के सम्बन्ध में महाराज जी के विचार –

'विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।।'

पूजा दो प्रकार की होती है – वैधी – विधि पूर्वक और रागात्मिका। विधिपूर्वक पूजा करते-करते रागात्मिका भक्ति आने पर फिर विधि की कोई आवश्यकता नहीं रहती। तब 'ठाकुर लो, खाओ' कहा जाता है। उसके पहले योग्य व्यक्ति के हाथ से पकाया हुआ भोजन चाहिये – शुद्ध-पवित्रतापूर्वक देना चाहिये। देव-मंदिर में काँसे का घंटा जोर-जोर से बजाता है। मैं तो आश्चर्यचकित हो जाता हूँ। सभी लोग अपने मुहल्लों में सरस्वती पूजा करते हैं, उसमें मैं तामसिक भाव ही देखता हूँ। अरे माँ आयी हैं! कहाँ तो मन-प्राण से यथासम्भव पवित्र होकर उनकी पूजा करेगा, तो वैसा नहीं करता! ठाकुर के लिये हाथ में फूल तोड़कर लाता है, यह देखकर मुझे बहुत दुःख होता है। इस पुष्प को ठाकुर के श्रीचरणों में दूँगा। फूल का हमारे शरीर से स्पर्श न हो जाय। इसीलिये पत्ते में फूल तोड़ा जाता है।

१८-५-१९६०

बहरमपुर से कुछ भक्त आये हैं। वे लोग अलौकिक शक्ति के बारे में साधारण लोगों की उत्सकुता की बात कह रहे हैं।

स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज – सामान्य लोग धर्म का अर्थ कुछ अलौकिक एवं चमत्कार – Supernatural, miracle – समझते हैं। किसी पुस्तक में लिखा है कि स्वामीजी चालीस साल बाद मुसलमानों में आयेंगे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने किसी स्थान पर बैठ कर ध्यान किया था, जिससे वहाँ का पत्थर पिघल गया था। ये सब असम्भवपरक बाते हैं। ऐसा हो ही नहीं सकता। ये लोग कहते हैं कि बन्दर मरते समय 'रघुबीर' कहते हुये मरते हैं। मैंने देखा है, हुपहुप बोलते हुये मरता है, उसी को सबने 'रघु' बना दिया है। कहते हैं कि हनुमानजी ने बालि को पूँछ में लपेट कर सात समुद्र में डुबाया था। हनुमान जी के शरीर में बाल और फिर पूँछ, जो इस बात में विश्वास करता है, क्या उसे सभ्य आदमी कहा जा सकता है? रामायण में उल्लिखित है कि उन लोगों की संस्कृति, शासन-व्यवस्था, राज और सामाजिक नियम-विधान है। वे सब क्या बानर हैं! वास्तव में वे लोग टोटेम – आदिवासी जाति के मनुष्य हैं।

हिन्दू धर्म सच्चा विज्ञान है। इसमें कहीं भी धोखाबाजी नहीं है। हमारा धर्म वेद और उपनिषद् पर आधारित है। इन्हें कोई नहीं पढ़ता है और समझता भी नहीं है। वे सब अतिप्राकृत – अस्वाभाविक बातें सामान्य लोगों के लिये कही गयी हैं। शिक्षित लोग उन बातों को सुनना ही नहीं चाहते हैं और विचार भी नहीं करना चाहते हैं। ये सब माँ की लीला है। वे ही तो प्रकृति हैं। वही माँ (श्रीमाँ सारदा देवी) बैठकर मुझे दीक्षा दी थीं। वही मंत्र मुझे याद है। मैं सब जानता हूँ, किन्तु केवल भूगोल ही। यूरोप का मानचित्र देखकर पूछने पर बता सकता हूँ कि कहाँ, क्या है। किन्तु वहाँ इस शरीर से जाना नहीं हुआ है। यदि कोई विद्वान् 'आत्मविकास' की पुस्तक पढ़े, तो उसमें वह वेदान्त की अंतिम बात, उसके चरम उपदेश को प्राप्त कर सकेगा। देह-मन-बुद्धि कार्य करते जा रहे हैं, मैं उसका द्रष्टा मात्र हूँ, यही तो कुछ बातें हैं। इसे ही तो समझाया गया है।

एक सेवक ने महाराज की पॉकेट-घड़ी को टेबुल के ऊपर रखा। किन्तु लापरवाही के कारण टेबुल के किनारे में रखा। महाराज जी ने कहा – 'देखो, सभी समान अच्छी तरह से, ठीक जगह पर रखना चाहिये। उस दिन एक व्यक्ति ने घड़ी को वैसे ही किनारे में रख दिया, जिससे वह गिर कर बन्द हो गयी थी। तब उसे बनवाने के लिये कोलकाता में भेजना पड़ा। हमलोगों के देश की शिक्षा-व्यवस्था में कुछ भी व्यावहारिक ज्ञान नहीं सिखाया जाता है। केवल पुस्तक को रटना और परीक्षा देना, देखो न, लड़के केवल पढ़-पढ़ कर दुर्बल और पाचन शक्ति हीन होते जा रहे हैं। वे लोग क्या खाद्य और क्या अखाद्य है, यह भी नहीं जानते हैं। खाने का एक श्लोक है, क्या तुमने इसे सुना है?

"हाँ हाँ ददात्, हूँ हूँ ददात् ददात् शिर कम्पने।
मौने च द्विगुणं ददात् न ददात् व्याघ्र झम्पने।।"

अर्थात्, जब कोई 'हाँ हाँ, हूँ हूँ' कर रहा है अथवा सिर हिला रहा है, इसका अर्थ है अधिक दो। यदि मौन रहता है, तो दो गुना दो और यदि देते समय थाली के ऊपर बाघ के समान कूद कर थाली को ढँक दे, तब मत देना।
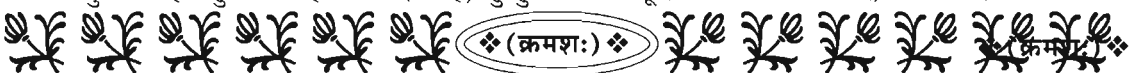
स्वामी विवेकानन्द की कथाएँ और दृष्टान्त

(स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में दृष्टान्त आदि के रूप में बहुत-सी कथा-कहानियों तथा दृष्टान्तों का वर्णन किया है, जो १० खण्डों में प्रकाशित 'विवेकानन्द साहित्य' तथा अन्य ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं। उन्हीं का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

२६. मोहत्याग ईश्वर के पास ले जाता है

जब लोग तुम्हारी बुराई करें, तो तुम उन्हें आशीर्वाद दो। सोचकर देखो, वे तुम्हारी कितनी भलाई करते हैं; अनिष्ट तो वे केवल अपना ही कर सकते हैं। ऐसी जगह जाओ, जहाँ लोग तुमसे घृणा करते हों। वे लोग मार-मार कर तुम्हारे अहंकार को बाहर निकाल देंगे; और इसके फलस्वरूप तुम ईश्वर के निकटतर पहुँच जाओगे। हम लोग बँदरिया* के समान संसार रूपी (मृत) बच्चे को यथासम्भव अपने सीने चिपटाये रहते हैं, पर अन्त में जब हम बाध्य होकर उसे अपने पाँवों के नीचे डालने को बाध्य होते हैं और उसके ऊपर चढ़ जाते हैं, तभी हम ईश्वर के समीप जाने के लिये तैयार माने जा सकते हैं। (७/२३)

२७. ईश्वर से प्रेम नि:स्वार्थ होना चाहिये

उन्होंने (स्वामीजी) एक ... राजा की कहानी सुनायी, जिन्होंने एक ऋषि को कुछ भेंट देने की इच्छा व्यक्त की थी। ऋषि ने मना कर दिया, परन्तु राजा हठ करता रहा और अपने साथ चलने की प्रार्थना की। दोनों महल में आये। ऋषि ने राजा को प्रार्थना करते हुए सुना। राजा ने ईश्वर से धन, शक्ति तथा लम्बी आयु के लिये याचना की। ऋषि विस्मित भाव से सुनते रहे और आखिरकार अपना आसन उठाकर बाहर की ओर कदम बढ़ाया। तभी राजा ने अपनी प्रार्थना पूरी करके अपनी आँखें खोलीं और उन्हें जाते देखा। उन्होंने पूछा, "आप जा क्यों रहे हैं? अभी तक तो आपने भेंट में कुछ भी ग्रहण नहीं किया।" ऋषि बोले, "क्या मैं एक भिखारी के सामने हाथ फैलाऊँ?" (८/२८८-८९)

२८. यह सब कुछ तुम्हारा ही तो है

एक बार मुझे एक योगी (गाजीपुर के पवहारी बाबा) के बारे में पता चला, जो काफी वयस्क थे और एक गुफा में अकेले रहते थे। उनके पास भोजन पकाने के लिए दो-एक बरतन मात्र थे। वे बहुत कम खाते, एक-आध वस्त्र पहनते और अपना अधिकांश समय ध्यान में ही बिताया करते थे।

उनकी दृष्टि में सभी प्राणी समान थे। वे अहिंसा में सिद्ध हो गये थे। वे हर वस्तु, हर व्यक्ति और हर प्राणी में आत्मा या परमात्मा का दर्शन करते थे। उनके लिए हर मनुष्य और हर प्राणी 'मेरे प्रभु' थे। किसी व्यक्ति या पशु को वे किसी अन्य नाम से सम्बोधित नहीं करते थे। एक दिन एक चोर उनके यहाँ पहुँचा और उसने उनका एक तसला चुरा लिया। उन्होंने चोर को देखा और उसका पीछा किया। पीछा दूर तक चला। चोर को थककर रुक जाना पड़ा। योगी दौड़कर उसके पाँवों पर पड़ गये। उन्होंने कहा, "मेरे प्रभु ! मेरे यहाँ आकर तुमने मेरा बड़ा सम्मान किया। मुझे इतना सम्मान और प्रदान कर कि दूसरा तसला भी स्वीकार कर। यह भी तेरा है।" अब इन वृद्ध महापुरुष का देहान्त हो चुका है। उनमें संसार की प्रत्येक वस्तु के लिए प्रेम भरा था। वे एक चींटी के लिए भी अपना प्राणोत्सर्ग कर देते। वन्य पशु सहज बुद्धि से इन वृद्ध व्यक्ति को अपना मित्र समझते थे। सर्प तथा भयानक पशु उनकी गुफा में जाते और उनके साथ सो जाते। वे सब उनसे प्रेम करते थे और उनकी उपस्थिति में कभी लड़ते नहीं थे। (४/१८२)

२९. चार यात्री और दीवार

चार यात्री एक खूब ऊँची दीवार के पास पहुँचे। पहला यात्री बड़ी कठिनाई से दीवार पर चढ़ा और पीछे की ओर मुड़ कर देखे बिना ही दीवार के उस पार कूद पड़ा। दूसरा यात्री भी किसी प्रकार दीवार पर चढ़ा और चारों ओर निगाह दौड़ाने के बाद हर्षध्वनि करते हुए लुप्त हो गया। उसके बाद तीसरा भी दीवार पर चढ़ा और अपने साथियों की खोज में इधर-उधर देखने लगा। वह भी आनन्द में हँसते हुए वैसे ही कूद पड़ा। परन्तु चौथा यात्री दीवार पर चढ़कर देखने के बाद यह बताने के लिये लौट आया कि उसके साथियों का क्या हुआ। माया की दीवार पर चढ़कर उस पार कूद पड़ने वाले उन महापुरुषों का हास्य इस बात का द्योतक है कि इस जगत्-प्रपंच के परे भी कुछ विद्यमान है। (७/८०)

३०. ईश्वर-प्रेम में दुकानदारी नहीं चलती

कृष्ण के एक शिष्य (युधिष्ठिर) तत्कालीन भारतवर्ष के सम्राट् थे। उनके शत्रुओं ने उन्हें राजसिंहासन से वंचित कर दिया था और उन्हें अपनी महारानी के साथ हिमालय के जंगलों में आश्रय लेना पड़ा था। वहाँ एक दिन महारानी ने उनसे प्रश्न किया कि मनुष्यों में सर्वाधिक पुण्यवान होते हुए भी उन्हें इतने कष्ट क्यों सहने पड़ते हैं?

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "महारानी, देखो, हिमालय के ये शिखर कितने भव्य और सुन्दर हैं ! मैं इनसे प्रेम करता हूँ।

* बँदरिया को अपने बच्चे से इतनी आसक्ति होती है कि उसके मर जाने पर भी वह उसे अपने सीने से जकड़े रहती है। पर अपनी जान खतरे में पड़ जाय, तो वह उसे फेंककर उसके ऊपर चढ़ जाती है।

ये मुझे कुछ देते नहीं; पर मेरा ऐसा स्वभाव है कि मैं प्रत्येक भव्य और सुन्दर वस्तु से प्रेम करता हूँ और इसी कारण मैं इनसे प्रेम करता हूँ। इसी प्रकार मैं ईश्वर से भी प्रेम करता हूँ। वे समस्त सौन्दर्य और सारी सुषमा के मूल हैं। एकमात्र वे ही प्रेम करने योग्य हैं। उनसे प्रेम करना मेरा स्वभाव है और इसीलिए मैं उनसे प्रेम करता हूँ। मैं किसी निमित्त के लिए उनसे प्रार्थना नहीं करता, मैं कोई वस्तु उनसे नहीं माँगता। उनकी जहाँ इच्छा हो, वहीं मुझे रखें। मैं तो केवल प्रेम के निमित्त से ही उनसे प्रेम करता हूँ। मैं प्रेम में व्यापार नहीं कर सकता।' (१/१३-१४)

३१. पवित्र बनो और सबसे प्रेम करो

उन (भगवान बुद्ध) के सिद्धान्तों के बारे में आप में से कुछ लोग थोड़ा-बहुत जानते हैं। उनके सिद्धान्त आज के अज्ञेयवादी कहे जानेवाले अनेक विचारकों को आकृष्ट करते हैं। वे मानव-जाति के बीच भ्रातृभाव के महान् प्रचारक थे – ''आर्य हो या अनार्य, सवर्ण हो या अवर्ण, सम्प्रदाय का हो या असम्प्रदायी – हर व्यक्ति का ईश्वर में, धर्म तथा मुक्ति में समान अधिकार है। आओ, तुम सभी चले आओ।'' परन्तु जहाँ तक अन्य चीजों का सवाल है, वे महान् अज्ञेयवादी थे। उनका कहना था, ''व्यावहारिक बनो।''

एक दिन ब्राह्मण जाति में उत्पन्न पाँच युवक एक प्रश्न पर झगड़ते हुए उनके पास आये। वे उनसे सत्य का मार्ग पूछने आये। एक ने कहा, ''हमारे आचार्यों ने ऐसा बताया है और यही सत्य का मार्ग है।'' दूसरे ने कहा, ''मुझे ऐसा बताया है और यही सत्य का एकमेव मार्ग है।''

''महाशय, कौन-सा मार्ग ठीक है?''

''अच्छा, तुम्हारे शिक्षकों ने सत्य और ईश्वर तक जाने का यह मार्ग बताया है?''

''जी, हाँ।''

''परन्तु क्या तुमने ईश्वर को देखा है?''

''नहीं, महाशय।''

''तुम्हारे पिता ने?''

''नहीं, महाशय।''

''तुम्हारे पितामह ने?''

''नहीं, महाशय।''

''उनमें से किसी ने ईश्वर को नहीं देखा?''

''नहीं।''

''अच्छा, और न ही तुम्हारे शिक्षकों में से किसी ने ईश्वर को देखा है?''

''नहीं।''

और यही प्रश्न उन्होंने बाकी सबसे पूछा। सबने बताया कि उन्होंने ईश्वर को नहीं देखा।

बुद्ध बोले – ''अच्छा, एक गाँव में एक युवक रोता-पीटता और चिल्लाता हुआ आया, 'ओह, मैं उससे इतना प्यार करता हूँ! ओह, मैं उससे इतना प्यार करता हूँ!' ग्रामवासियों के आने पर उसने केवल इतना ही कहा कि वह उसे बड़ा प्यार करता है।

''वह कौन है, जिसे तुम प्यार करते हो?''

''मैं नहीं जानता'' – पर वह उससे प्यार करता था।

''वह दिखने में कैसी है?''

''सो तो मैं नहीं जानता, पर ओह, मैं उसे बड़ा प्यार करता हूँ।''

तब बुद्ध ने कहा – ''युवको, तुम लोग उस युवक को क्या कहोगे?''

उन सबने एक स्वर में कहा – ''क्यों महाशय! वह युवक तो निश्चय ही एक मूर्ख था। एक औरत के बारे में इतना रोना-गाना, कहना कि वह उसे बड़ा प्यार करता है, जबकि न उसने कभी उसे देखा है और न ही उसके अस्तित्व या किसी चीज के बारे में जानता है!''

''तुम लोग भी क्या वैसे ही नहीं हो? तुम हो कि इस ईश्वर को तुम्हारे बाप-दादाओं ने भी कभी नहीं देखा और इस समय तुम लोग एक ऐसी चीज को लेकर लड़ रहे हो, जिसे न कभी तुमने, न तुम्हारे पूर्वजों ने समझा और उसे लेकर तुम लोग एक-दूसरे का गला काटने की चेष्टा कर रहे हो।''

तब उन युवकों ने पूछा, ''तो फिर हम लोग क्या करें?''

''अब मुझे बताओ – क्या तुम्हारे पिता ने कभी तुम्हें सिखाया है कि ईश्वर क्रोधी हैं?''

''नहीं, महाशय।''

''क्या कभी तुम्हारे पिता ने तुम्हें सिखाया है कि ईश्वर बुरे हैं?''

''नहीं, महाशय, वे तो सर्वदा पवित्र हैं।''

''अच्छा, तो फिर, यह सब तर्क-वितर्क करने तथा एक-दूसरे का गला काटने के प्रयास की अपेक्षा यदि तुम पवित्र और भले हो सको, तो क्या तुम्हारे लिए ईश्वर तक पहुँचने की अधिक सम्भावना नहीं रहेगी? इसीलिये मैं कहता हूँ – पवित्र और भले बनो; पवित्र बनो और सबसे प्रेम करो।'' इतना ही यथेष्ट था। (CW, 3/525-27)

❖ (क्रमशः) ❖

विभिन्न रूपों में श्रीमाँ

आशुतोष मित्र

१९४४ ई. के नवम्बर में प्रकाशित लेखक के 'श्रीमाँ' नामक पुस्तक के प्रथम तीन अध्याय हम २००६ के अंकों में प्रकाशित कर चुके हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' के खण्ड २ से इस अंश का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(४२) बीच-बीच में माँ को भक्तों के दाम्पत्य कलह भी सुलझाने पड़ते थे। एक परिवार के पति-पत्नी दोनों ही ठाकुर के बड़े पुराने भक्त थे और उनके झगड़े ठाकुर को ही सुलझाने पड़ते थे। उनके देहत्याग के बाद यह भार माँ के ऊपर आ पड़ा था। माँ को ऐसा करते हमने कई बार देखा है, यहाँ केवल अन्तिम घटना का उल्लेख करता हूँ। एक दिन सुबह एक भक्त-महिला माँ के पास आयीं और उन्हीं के पास ठहर गयीं। माँ ने हम लोगों से कह दिया कि उसके पति आयें, तो उन्हें सूचना दी जाय। तीन-चार दिन बीत गये, उनके पति तो नहीं आये, पर उनके द्वितीय पुत्र के आने पर श्रीमाँ ने उसकी माँ को उसके साथ नहीं भेजा, बल्कि उसके पिता को ही भेजने को कहा। आखिरकार एक दिन संध्या के बाद जब वे पुरुष-भक्त आये, तो माँ ने उन्हें ऊपर बुलवाया और हम लोगों के द्वारा कहलाया, "अब बुढ़ापे में भी क्या यह सब उचित लगता है? – बड़े बेटे ने तीन परीक्षाएँ पास की हैं, कुछ दिन बाद शादी होगी – बहू आकर यही सब देखकर तो सीखेगी ! मेरी बात सुनो, अब दुबारा कभी ऐसा न हो। नहीं होगा न?" उन्होंने स्वीकार किया कि फिर कभी ऐसा नहीं होगा। माँ पुन: बोलीं, "वह घर की लक्ष्मी है, इसे किसी तरह का मानसिक कष्ट नहीं देना चाहिये। यह क्या अपने लिये कुछ करती है? परन्तु उसका हाथ थोड़ा खुला है। तो क्या हुआ? भक्त की गृहस्थी है। उसे अच्छी तरह रखना होगा।" दोनों उसी दिन चले गये। दुबारा कभी उनमें झगड़ा होने की बात नहीं सुनी गयी।

(४३) सिर को चादर से ढँके माँ गृही-भक्तों का प्रणाम ग्रहण कर रही थीं। सभी भक्त एक-एक कर प्रणाम करके चले गये, पर एक व्यक्ति ने प्रणाम नहीं किया – आकर चुपचाप बैठे रहे। कई बार कहने पर भी उन्होंने न तो प्रणाम किया और न ही कोई उत्तर दिया; पूर्ववत चुपचाप बैठे रहे। वे क्या चाहते हैं – पूछने पर भी मुझे कोई उत्तर नहीं मिला। उनसे कहा गया – सिर को चादर से ढँके खड़े रहने में माँ को कष्ट हो रहा है, इस प्रकार उन्हें कष्ट देना उचित नहीं है। तब वे बोले, 'अहा, पाषाणी माँ !" लेकिन उठे नहीं। माँ ने पुछवाया – मंत्र लेंगे क्या? उन्होंने उत्तर दिया, "अहा, अब होश हुआ है।" माँ ने उनसे कमरे के बाहर प्रतीक्षा करने को कहा। उन्होंने वैसा ही किया। इस बीच माँ चादर हटाकर अपने आसन पर जाकर बैठीं और भक्त को बुलाकर दीक्षा दे दिया। उस दिन उन्होंने उनसे प्रसाद लेने को भी कहलवाया। दीक्षा के बाद भक्त नीचे आकर अपने आप में डूबे बैठे रहे – किसी से कुछ बोल नहीं रहे थे। बाद में चुपचाप प्रसाद पाकर चले गये। बहुत दिनों बाद वे एक बार फिर आये। उस दिन वे बड़े प्रफुल्ल दिखे। सुबह से शाम तक रहे और सबके साथ आनन्दपूर्वक मिले-जुले।

(४४) निम्नोक्त दृष्टान्त से समझा जा सकता है कि माँ की धन पर आसक्ति थी या अनासक्ति? इस प्रकार के अनेक दृष्टान्त मिले हैं, तथापि यहाँ केवल एक देते हैं।

एक बार जयरामबाटी जाते समय वहाँ की एक अत्यन्त निर्धन महिला को देने हेतु एक साड़ी खरीदने के लिए माँ ने मुझे दस रुपयों का एक नोट दिया। ढाई रुपये में साड़ी खरीदने के बाद जब मैं उन्हें बाकी साढ़े सात रुपये लौटाने गया, तो वे मना करते हुए बोलीं कि उन्होंने दस का नहीं केवल पाँच रुपयों का नोट दिया था, अत: वे इतने पैसे क्यों वापस लेंगी? मैंने बारम्बार कहा कि आपने दस रुपये दिये थे, परन्तु कोई फल न निकलता देख हारकर मैंने पूछा, "आपके बक्से में कितने दस के और कितने पाँच के नोट थे – याद है न?" उन्होंने कहा, "नहीं।" – "कुल मिलाकर कितने रुपये थे, यह तो याद है?" वे बोलीं, "नहीं।" – "तो फिर सोचकर देखिये कि मैं ज्यादा क्यों दूँगा? ज्यादा पाऊँगा भी कहाँ से? यदि किसी से पाता भी, तो आपको ही तो देता?" इतना कहने पर, तब कहीं उन्होंने बाकी रुपये वापस लिये।

(४५) शिरोमणिपुर से कोई महिला अपने पुत्र के असाध्य रोग को दूर करने हेतु माँ का चरणोदक लेने हेतु जयरामबाटी आयी थीं – ब्रह्मचारी हरेन्द्रनाथ से ज्ञात होने पर मैंने भीतर जाकर देखा – वह महिला एक बरतन में पानी लेकर आयी है और माँ अपने दाहिने पाँव के अंगूठे को उसमें डुबाने जा रही हैं। मैंने तत्काल उनके चरण पकड़कर रोकते हुए उस महिला से कहा, "तुम अपने पुत्र की चाहे चिकित्सा कराओ या कुछ और कराओ, पर इसके लिये माँ का चरणोदक नहीं

मिलेगा।'' पास ही भव थे। उन्होंने भी सहमति जताते हुए कहा, ''नहीं माँ, मत देना। एक तो आप गठिया से कष्ट पा रही हैं, अब न जाने और क्या रोग हो जाय! कर्ताभजा सम्प्रदाय के लोग इसी प्रकार पैर का अंगूठा चूसते हैं।'' माँ हारकर उस महिला से बोलीं, ''बेटी, तू चुपचाप क्यों नहीं आयी? नहीं तो पा जाती। अब तो लड़के जान गये हैं, उनकी इच्छा के विरुद्ध मैं कुछ नहीं कर सकती। गाँव में बहुत-से ब्राह्मण हैं, जिनसे भी मिले, ले जा – मैं कहती हूँ, तेरा लड़का ठीक हो जायगा।''

(४६) एक बार विष्णुपुर के पोकाबाँध की चट्टी में एक ऐसा व्यक्ति आया, जिसका सारा शरीर सफेद हो चुका था। उसके हाथ में मिट्टी थी और माँ की चरणधूलि लेना चाहता था। उसे मना करते हुए माँ ने कहा, ''लड़के देने नहीं देंगे, बेटा, बोलो, मैं क्या करूँ? तुम मृण्मयी देवी के स्थान पर जाकर धरना दो – बीमारी ठीक हो जायगी।''

(४७) जयरामबाटी में मामा लोगों के यहाँ एक चरवाहा काम करता था। कभी-कभी संध्या के समय वह अपने हाथ में एक डण्डा लेकर अपनी पीठ पर मारते हुए नृत्य करता। कलाबाजियाँ दिखाता। और मुँह से सुर लगाकर गाता, 'माँ, ओ माँ, मेरी शादी नहीं की रे!' आदि कवित्त सुनाता। एक दिन माँ ने उसे ऐसा करते देखकर कहा, ''अभी तो 'शादी नहीं की, शादी नहीं की' कह रहा है, परन्तु विवाह का स्वाद तो बाद में चखेगा।'' फिर उन्होंने हम लोगों की ओर उन्मुख होकर पूछा, ''ठाकुर की वह बात याद है न?'' मैं बोला, ''हाँ, माँ। ठाकुर के बड़े भाई अपनी शारीरिक शक्ति से पत्नी को दबाकर रख सकते थे, परन्तु उनकी पत्नी जब उनकी धोती का छोर पकड़कर खींचने लगती, तो केंचुए की तरह चले जाते।'' माँ ने कहा, ''हाँ, वैसा ही होगा।''

(४८) दीक्षा के बाद माँ किसी-किसी शिष्य को रुद्राक्ष की माला लाने को कहतीं। शिष्यगण दो तरह की मालाओं का उपयोग करते – कोई १०८ दानों की और कोई ५४ दानों की माला गुँथवाकर लाते। माला आ जाने पर माँ उसे गंगाजल से स्नान कराने के बाद चन्दन लगाकर ठाकुर के चरणों से स्पर्श करातीं और इसके बाद जप कर देतीं। जप-ध्यान करने की बात कहने पर यदि कोई शिष्य किसी कारण वश असमर्थता दिखाता, तो वे सुबह-शाम स्मरण-मनन करने को कहतीं। उसमें भी असमर्थ होने पर दिन के अन्त में मात्र एक बार स्मरण करने को कहतीं। यह कोई सामान्य नियम नहीं था, बल्कि इसमें पात्र-विशेष के लिए भेद था।

(४९) बड़े गोपाल-दादा के देहत्याग की रात माँ से बहुत देर तक बातचीत हुई। मैंने पूछा, ''स्वामीजी कहते थे कि 'अवतार कपालमोचन होते हैं' – भाग्य एक तरह से चल रहा है, अवतार एक बार हाथ फेरकर गति बदल सकते हैं। आप लोग क्या सचमुच ऐसा कर सकते हैं? और क्या करते भी हैं?'' बातों में भुलाने की चेष्टा व्यर्थ होने पर माँ अन्ततः इस प्रश्न के उत्तर में बोलीं, ''ठाकुर तोड़ने नहीं आये थे। लोग चमत्कार देखना पसन्द करते हैं – वही देखते भी हैं। जगाई-मधाई जैसे भक्त कहाँ हैं? गिरीश बाबू जैसा भक्त कौन है? ये लोग उसी भाव में आयेंगे। देखते नहीं – रोशनी के इर्द-गिर्द रहनेवाले पतिंगे उड़-उड़ कर अन्ततः उसी रोशनी में मिल जाते हैं। – ''तो आप क्या यह कहना चाहती हैं कि ये लोग हमेशा अवतार के साथ आते रहते हैं; और नाटक के समान अपनी-अपनी भूमिका निभाकर लौट जाते हैं?'' – ''हाँ, ऐसा ही है।'' – ''तो फिर हम जैसे लोगों की क्या दशा होगी?'' ठाकुर की बात पढ़ी नहीं – बूढ़ी छूने से ही हुआ। हँसो-खेलो, नाचो-कूदो और चाहे जो करो – बूढ़ी को छू लिया है – चोटी बँधी है – बचने का मार्ग है क्या?'' – ''तो फिर हम लोगों को भी चिन्ता नहीं है?'' – ''नहीं, बेटा नहीं। तुम लोगों को भला क्या चिन्ता? ठाकुर ने भार लिया है – वह क्या जिस-तिस ने पकड़ा है?'' – ''वह तो आप ही जानती हैं माँ।'' – ''देख लेना।''

(५०) दुर्गापूजा की महाष्टमी के दिन सुबह से ही माँ को विश्राम नहीं मिला। दल-के-दल स्त्री-पुरुष भक्त आकर कोई प्रणाम, तो कोई पूजा कर रहे हैं – माँ खड़ी हैं। इसी प्रकार नौ बज गये। तब उन्होंने कहा, ''अब और किसी को मत आने देना – नीचे बैठा देना। मैं पूजा कर लूँ।'' इतना कह कर वे नलघर में चली गयीं। मैंने नीचे आकर देखा कि माँ के केवल एक ही शिष्य अध्यापक कालीपद वन्द्योपाध्याय हाथों में फूल लिये प्रतीक्षा कर रहे हैं। माँ के नलघर से निकलने पर उन्हें कालीपद के बारे में बताने पर वे बोलीं, ''वह अकेले ही है न? उसे झट से प्रणाम कर जाने को कहो।''

कालीपद के हाथों में बिल्कुल ताजे खिले कमल और लाल गुड़हल देखकर माँ आनन्दित चित्त से दोनों हाथ बढ़ा कर बोलीं, ''वाह! वाह! – अच्छे फूल हैं! – कुछ मुझे दो – ठाकुर को दूँगी – आज महाष्टमी है न!'' कालीपद ने सब दे दिये, वे हँसकर बोलीं, ''नहीं, नहीं सब नहीं देना होगा। तुम तो फिर पूजा करोगे न!'' यह कहकर माँ ने कुछ फूल लेकर, स्वयं पूजा करने के लिए ठाकुर-पूजा के पुष्पपात्र में रखे। बाकी फूलों से कालीपद ने माँ की पूजा की। माँ ने कहा, ''नीचे बैठो, पूजा हो जाने पर प्रसाद भिजवाती हूँ।''

❖ **(क्रमशः)** ❖

स्वामी ब्रह्मानन्द के संस्मरण

स्वामी तेजसानन्द

(‘राखाल महाराज’, ‘राजा महाराज’ या केवल ‘महाराज’ के नाम से भी परिचित भगवान श्रीरामकृष्ण के एक प्रधान शिष्य तथा रामकृष्ण मठ-मिशन के प्रथम संघाध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्दजी आध्यात्मिक भावों के एक अपूर्व ज्योतिपुंज थे। उनके ये संस्मरण अंग्रेजी के ‘वेदान्त एंड द वेस्ट’ पत्रिका के १९६० के मार्च-अप्रैल अंक में प्रकाशित हुए थे। प्रस्तुत है उसी का स्वामी विदेहात्मानन्दजी कृत हिन्दी अनुवाद। – सं.)

जब मैं कोई आठ या नौ वर्ष का था, तभी मेरे एक सम्बन्धी ने मुझे श्रीरामकृष्ण की एक छोटी-सी जीवनी पढ़ने को दी। यद्यपि मैं उसकी कुछ बातें समझ नहीं सका था, तथापि उस पुस्तक ने मेरे मन को बड़ा प्रभावित किया। बाद में ‘श्रीरामकृष्ण-वचनामृत’ ग्रन्थ में मैंने पढ़ा कि श्रीरामकृष्ण नरेन, राखाल तथा कुछ अन्य युवकों का ‘नित्यसिद्ध’ के रूप में उल्लेख करते हैं। मुझे मालूम नहीं था कि इन शब्दों का क्या अर्थ है, तथापि मैं इतना अवश्य समझ गया कि श्रीरामकृष्ण जिन शिष्यों के लिए इस शब्द का प्रयोग करते थे, वे लोग आध्यात्मिक दृष्टि से काफी उन्नत होंगे और एक अलग ही श्रेणी में रखे जायेंगे।

ज्यों-ज्यों मैं बड़ा होने लगा, श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द के विषय में जो कुछ भी मिला, उसे पढ़ता रहा और जब मैं कॉलेज की पढ़ाई के लिए कलकत्ता पहुँचा, तो अवसर मिलते ही उद्‌बोधन तथा दक्षिणेश्वर जाने लगा। उन दिनों कलकत्ते से बेलूड़ मठ आना-जाना बड़ा ही कठिन था, अत: मैं प्राय: उद्‌बोधन कार्यालय ही जाया करता था। वहाँ मेरी एक स्वामीजी के साथ जान-पहचान हो गयी, जो मुझे स्वामी तुरीयानन्द के पास ले गये। श्रीरामकृष्ण के शिष्यों में सर्वप्रथम मैंने उन्हीं का दर्शन किया था।

तुरीयानन्दजी को मैंने रामकृष्ण संघ में सम्मिलित होने की अपनी इच्छा बतायी, परन्तु वे बोले, “नहीं, अभी नहीं। पहले अपनी पढ़ाई पूरी कर लो। जब तुमने एक कार्य हाथ में लिया है, तो पहले उसी को समाप्त कर डालो।” इसके बाद कई दिनों तक उनके साथ मेरी जोरदार बहस होती रही।

मैं प्राय: प्रतिदिन ही और कभी-कभी सुबह-शाम दोनों समय तुरीयानन्दजी से मिलने जाया करता था। मैं जानता था कि वे एक महापुरुष हैं, परन्तु मुझे यह बोध नहीं हो सका था कि उनके चरणों में बैठकर उनकी वाणी का श्रवण करना मात्र ही मेरे लिए परम सौभाग्य की बात है। अत: अपनी मूर्खता की झोंक में मैं सर्वदा ही उनके साथ तर्क-वितर्क में लगा रहता था और अब मैं इसके लिए अत्यन्त शर्मिन्दा हूँ। सम्भव है कि उन्होंने जान-बूझकर ही मुझे तर्क-वितर्क करने का मौका दिया हो, क्योंकि उनमें इच्छा मात्र से ही मुझे चुप कर देने क्षमता थी।

तुरीयानन्द जी के साथ वाद-विवाद करते रहने से एक लाभ तो यह हुआ कि उनके साथ मेरी बड़ी घनिष्ठता हो गयी। शास्त्रों में लिखा है कि सत्पुरुषों का क्षण भर के लिए भी संग होना, महान् आध्यात्मिक उपलब्धियों का मूल है। एक दिन ऐसे ही बहस करते समय उन्होंने कहा, “तुम महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) के पास क्यों नहीं जाते? पर जान रखना, उनके साथ ऐसा तर्क-वितर्क नहीं चलेगा।” तब तक मैं तुरीयानन्द जी के साथ खूब घुल-मिल चुका था और मुझे अपने लिए इतना ही यथेष्ट लगता था, अत: उन दिनों मैं किसी और के पास जाने की मन:स्थिति में नहीं था। एक दिन उन्होंने मुझे बताया, “एक समय था, जब मैं किसी भी व्यक्ति का अन्तर काँच की आलमारी के समान देख पाता था।” जीवन में पहली बार मैंने किसी के मुख से एक ऐसी बात सुनी और मैं उस पर अविश्वास नहीं कर सका।

कॉलेज के आगामी सत्र में मुझे एक छात्रावास में रहना पड़ा, जहाँ दो अन्य अन्तेवासी ‘महाराज’ के शिष्य थे। उनके कुछ मित्र भी माताजी तथा महाराज के कृपापात्र थे। इस प्रकार विचारों तथा आदर्शों का मेल होने के कारण आपस में लगाव रखनेवाले हम विद्यार्थियों का एक अलग दल ही गढ़ उठा और हम प्राय: ही आपस में मिलते रहते थे। महाराज से मिलने कभी-कभी हम लोग बेलूड़ मठ और प्राय: कलकत्ते के बलराम मन्दिर जाया करते थे। इस प्रकार महाराज के साथ मेरी व्यक्तिगत रूप से जान-पहचान हो गयी थी।

महाराज जहाँ कहीं भी निवास करते, लोग बड़ी संख्या में उनका दर्शन करने आते और उन्हें प्रणाम करने के लिए हमें काफी देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ती। इन आगन्तुकों में वयस्क तथा तरुण संन्यासी और पुराने तथा नये भक्त भी थे। हम लोग अभी छोटे थे, अत: दूसरे लोगों का दर्शन हो जाने तक हमें प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। पर एक बार जब हम उनके सान्निध्य में पहुँच जाते, तो लगता कि हमें अपनी प्रतीक्षा का उचित से भी कहीं अधिक फल प्राप्त हो गया है।

धीरे-धीरे मेरे मन में महाराज से दीक्षा पाने की इच्छा जागने लगी। मुझे पता चला कि वे इसके लिए सहज ही राजी नहीं होते। ऐसे भी उदारहण मिले कि लोगों को दीक्षा के लिए वर्षों प्रतीक्षा करनी पड़ी थी और किसी-किसी को तो इसका सौभाग्य कभी नहीं मिल सका था। तथापि मैं उनसे दीक्षा पाने को तुला हुआ था; और इस हेतु अनुरोध करने के लिए चूँकि महाराज को अकेले में पाना कठिन था, अत: मैंने एक योजना बनायी। गर्मी का मौसम होने के कारण उन दिनों

लोग प्राय: शाम को ठण्डक हो जाने पर ही महाराज से मिलने आते थे और दोपहर में उनके पास किसी के आने की सम्भावना नहीं थी। अत: एक दिन मैं तपती दुपहरी में ही बलराम-मन्दिर की ओर चल पड़ा। ट्राम के अड्डे से उस भवन तक का रास्ता बड़ा कष्टदायी था। वहाँ पहुँचकर मैं लम्बी प्रतीक्षा के लिए तैयार होकर एक बेंच पर आसीन हो गया। परन्तु चन्द मिनट बाद ही महाराज के द्वार खुले और वे बाहर आये। वे मुझे देखकर विस्मित से हुए और कहने लगे, ''अरे, तुम यहाँ हो ! क्या चाहते हो तुम?''

मैंने सहमकर उत्तर दिया, ''महाराज, मैं आपसे कुछ बातें करना चाहता हूँ।''

उन्होंने मुझे इन्तजार करने को कहा। थोड़ी देर बाद वे मुझे साथ लेकर उस बड़े हॉल में गये, जहाँ श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में उनकी अनेक लीलाएँ हो चुकी थीं। महाराज और उनके साथ ही मैं भी वहाँ टहलने लगा। धड़कते हृदय के साथ मैंने उनके समक्ष अपनी दीक्षा की आकांक्षा व्यक्त की और यह देखकर मुझे बड़ा विस्मय हुआ कि उन्होंने मेरी प्रार्थना तत्काल स्वीकार कर ली। यही प्रथम अवसर था, जबकि मैंने उनके साथ व्यक्तिगत रूप से बात की थी और उनकी उपस्थिति में अपने आपको पूर्णत: नि:संकोच महसूस किया था। उनका व्यवहार इतना स्नेहमय था कि मेरा सारा भय तथा संकोच न जाने कहाँ चला गया। ऐसा लगा मानो काफी अर्से से उनके साथ मेरी आत्मीयता रही हो।

कुछ सप्ताह बाद मैं पुन: आकर उसी हॉल में उनसे मिला, हम फिर वहीं टहले और पुन: कुछ वैसी ही घटना हुई। ऐसे समय महाराज मानो आध्यात्मिकता के शिखर से मेरे ही स्तर पर उतर आते और मुझे लगता कि मैं उनके साथ किसी भी विषय पर नि:संकोच वार्तालाप कर सकता हूँ।

इस द्वितीय अवसर पर उन्होंने मुझसे कहा, ''देखो, क... कहता है कि मुझे (मिशन के किसी कार्यवश) रजिस्ट्री-कार्यालय में जाना होगा। ये लोग मुझे चैन से जप-ध्यान भी नहीं करने देते।'' मुझे आश्चर्य हुआ कि महाराज ये बातें मुझसे क्यों कह रहे हैं। कोई सपने में भी नहीं सोच सकता था कि उन्हें अब भी साधना की आवश्यकता है। तथापि उन्होंने यह बात मुझे इतनी स्वाभाविकता के साथ कही, मानो मैं उनका एक विश्वस्त मित्र होऊँ और तब भी मैं अल्पवयस्क तथा नव-परिचित ही था।

सम्भवत: पहली बार मिलने पर उन्होंने मेरे समक्ष अपने मन का खेद व्यक्त करते हुए कहा था, ''देखो, बहुत-से लोग यहाँ आकर अनुनय-विनय करके दीक्षा ले जाते हैं, पर लौटकर कुछ भी नहीं करते और इस कारण मुझे बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है।'' यह सुनते ही मैंने वचन दिया कि मैं कदापि उनके लिए कष्ट का कारण नहीं बनूँगा। (यह काफी पुरानी बात है, पर अब जब मैं इस घटना का स्मरण करता हूँ, तो लगता है कि क्या मैं सचमुच ही अपना वह वचन निभा सका !) महाराज मुझे दीक्षा देने को राजी तो हुए, परन्तु बोले, ''यह मौसम उपयुक्त नहीं है। तुम अक्तूबर में आना, मैं तुम्हारी दीक्षा के लिए एक अच्छा दिन ठीक कर दूँगा।''

यहीं से मेरी समस्याओं का सूत्रपात हुआ। अक्तूबर का महीना आया और मैंने उनसे अकेले में मिलने का प्रयास किया, पर यह आसान नहीं था। जब कभी मैं उनसे मिलने को जाता, तो कोई-न-कोई उनके पास रहता; या वे कहते, ''आज मेरी तबीयत ठीक नहीं है।'' ऐसे में उनके साथ कोई गम्भीर चर्चा सम्भव न थी।

ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, त्यों-त्यों दीक्षा पाने के लिए मेरी उद्विग्नता भी बढ़ती गयी। मुझे चिन्ता हुई कि यदि कहीं किसी कारणवश वे बंगाल के बाहर गये, तो फिर उनके लौटने में काफी दिन लग सकते हैं। और यदि वे ऐसे समय लौटे, जब मैं कलकत्ते से बाहर रहूँ, तो मौका पूरी तौर से निकल जायगा। मैं पहले के ही समान अन्य लोगों के साथ महाराज के दर्शन करने जाता, परन्तु उन्हें अपनी दीक्षा की तिथि निर्धारित करने की बात याद दिलाने को अकेले में मिलने का अवसर ही नहीं मिलता। कभी-कभी तो मैं मन-ही-मन अधीर हो उठता। एक मित्र ने मुझे सावधान करते हुए कहा, ''ऐसा मत सोचना, नहीं तो तुम्हें और भी लम्बे अर्से तक प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है। अ... ने भी अधीरता दिखायी थी, तो उसे बारह साल तक प्रतीक्षा करनी पड़ी।''

लगता है महाराज को मेरी मानसिक अशान्ति का पता था, क्योंकि उन्होंने कुछ छोटी-मोटी घटनाओं के दौरान इस ओर इंगित भी किया था। एक दिन बेलूड़ मठ में हम कुछ विद्यार्थी बाल्टियों में जल लाकर मठ-भवन के दूसरे छोर पर रखे हौज को भर रहे थे। महाराज दूसरी मंजिल पर स्थित अपने कमरे के बरामदे में खड़े गंगा-दर्शन कर रहे थे। वैसे तो वे ऊपर खड़े होकर नीचे लॉन में किसी के साथ बातें नहीं करते थे, परन्तु मेरे काफी दूर होने के बावजूद उन्होंने वहीं से पुकारकर कहा, ''क्यों, कैसे हो? तुमने जलपान किया या नहीं?'' ऐसी पूछताछ कोई खास महत्त्व की न थी, परन्तु इसके फलस्वरूप मेरा मन क्षण भर में ही शान्त हो गया। मुझे महसूस हुआ कि उनके पूछने में शब्दार्थ से कहीं अधिक गूढ़ार्थ निहित है।

महाराज के साथ परिचय होने के प्रारम्भिक दिनों की बात है। एक दिन संध्या के समय मैं बड़ी ही अशान्त मन:स्थिति में उनके दर्शन को गया था। वे अपने बिस्तर पर बैठे ध्यान कर रहे थे। कई अन्य संन्यासी तथा भक्त भी उसी छोटे-से कमरे में नीचे फर्श पर बैठकर ध्यान कर रहे थे। मुझे भी बैठने को थोड़ी-सी जगह मिल गयी। थोड़ी देर बाद एक-

एक कर सभी चले गये।

महाराज ने मुझसे पूछा, "क्या चाहते हो?" मैं बोला, "महाराज, जब आप जैसे लोग ईश्वर के बारे में बोलते हैं तो अविश्वास नहीं किया जा सकता, परन्तु हमें सहज भक्ति की उपलब्धि क्यों नहीं होती? इसके लिए हम क्या करें?" मैंने सोचा था कि ऐसे प्रश्न पर महाराज कहीं खीझ न उठें, परन्तु ऐसा हुआ नहीं। उन्होंने बड़े स्नेह तथा सहानुभूति के साथ मेरी ओर देखा और इतने मात्र से ही मेरी आधी समस्याओं का समाधान हो गया। तदुपरान्त वे कहने लगे, "देखो, धर्म सर्वाधिक व्याहारिक वस्तु है। साधना करने पर फल अवश्यम्भावी है। यदि कोई यंत्रवत करते हुए भी निष्ठापूर्वक लगा रहे, तो समय आने पर उसे सब प्राप्त हो जायगा।"

मैं मौन रह गया और मेरा चित्त भी शान्त हो गया। मुझे तुरीयानन्द जी की वह उक्ति याद हो आयी कि महाराज के साथ कोई तर्क-वितर्क नहीं चलेगा। उनका कथन सौ फीसदी सही था। मैंने पाया कि महाराज के समक्ष युक्ति-तर्क व्यर्थ हैं।

इस प्रकार महाराज ने मेरे मन में यह भाव दृढ़तापूर्वक अंकित कर दिया कि साधना की अतीव आवश्यकता है। फिर वे बोले, "यदि तुम ईश्वर की ओर एक कदम आगे बढ़ते हो, तो वे तुम्हारी ओर लाख कदम आते हैं।" यह तो मेरे लिए बड़े ही विस्मय की बात थी। क्षण भर में ही मैंने हिसाब लगा लिया कि यदि मेरे एक कदम ईश्वर की ओर चलने पर वे एक कदम भी मेरी ओर आयें, तो भी यह एक बड़ी बात होगी और फिर लाख कदम का तो कहना ही क्या! यह तो कुछ ऐसा ही हुआ मानो एक भिखारी अचानक ही लखपति बन गया हो। मेरे आनन्द की सीमा न रही।

देरी हो रही थी, इस कारण महाराज ने मुझे घर जाने को कहा। परन्तु मेरे विदा लेने के पूर्व उन्होंने मुझे आश्वस्त किया कि वे मुझे साधना-सम्बन्धी निर्देश देंगे और इसके लिए उन्होंने मुझे किसी उपयुक्त दिन आने को कहा।

इसीलिए एक दिन बड़े सबेरे ही मैं महाराज से मिलने गया, क्योंकि उस समय शायद ही कोई उनसे मिलने आता था। कमरे के द्वार खुले थे और वे पिछली बार के समान ही अपने बिस्तर पर बैठे ध्यानमग्न थे। कुछ अन्य संन्यासी भी उस कमरे में बैठकर ध्यान कर रहे थे। सबके चले जाने पर महाराज ने मेरे आने का कारण पूछा। मैंने बताया, "आपके निर्देशानुसार ही आया हूँ।" वे थोड़ी देर तक ध्यान करते रहे, फिर मुझे इन्तजार करने को कहकर बरामदे में चले गये। मैंने काफी देर तक प्रतीक्षा की, फिर देखा कि अब और ठहरने से कॉलेज छूट जाने का भय है। परन्तु चूँकि महाराज मुझे प्रतीक्षा करने को कह गये थे, अत: मेरी वहाँ से उठने की इच्छा नहीं हुई। बड़ी देर तक सोच-विचार करने के बाद मैंने बगल के कमरे में झाँककर देखा, तो महाराज वहाँ बैठे समाचार-पत्र पढ़ रहे थे। उनकी दृष्टि मुझ पर पड़ी और वे बोले, "मैं शीघ्र आ रहा हूँ।" मैं इस घटना का उल्लेख इसलिए कर रहा हूँ कि मुझे कितनी ही बार इस बात के लिए पछतावा हुआ है कि महाराज के प्रतीक्षा करने को कहने के बावजूद मैं उनकी तलाश में क्यों गया! प्रतीक्षा में बैठाने का शायद उनका कोई खास मकसद रहा हो।

महाराज के आने पर मैंने उन्हें बताया कि मुझे ईश्वर के प्रति सहज श्रद्धा-भक्ति का अभावबोध होता है और इसी कारण मैं उनका मार्गदर्शन चाहता हूँ। उन्होंने मुझे साधना-विषयक कुछ निर्देश दिये और कुछ दिनों तक उन्हें पालन करने को कहा। उस दिन उन्होंने मुझे यह भी बताया कि यदि कोई दो, तीन, पाँच या अधिक-से-अधिक बारह वर्ष तक साधना करे, तो फल अवश्यम्भावी है। मैंने विदा ली। मेरे हर बार विदा लेते समय महाराज निश्चित रूप से कहते, "जितनी बार भी हो सके, आते रहना।" या फिर कहते, "अपनी सुविधानुसार बीच-बीच में आते रहना।"

महाराज मुझे ध्यान-सम्बन्धी प्राथमिक निर्देश दे चुके थे, परन्तु वास्तविक दीक्षा के लिए मुझे अभी और प्रतीक्षा करनी थी। अत: मैं सदा मन-ही-मन चिन्तित रहा करता था। एक बीमारी के पश्चात मैं छात्रावास के अपने कमरे में रहकर आरोग्य-लाभ कर रहा था। एक दिन दो मित्र मुझसे मिलने के लिए आ गये। उनमें से एक को महाराज अगले दिन दीक्षा प्रदान करनेवाले थे। मैंने सोचा, "क्या मेरे लिए भी कोई सम्भावना है? या फिर यह अवसर भी हाथ से निकल जायगा?" शारीरिक रूप से दुर्बल होने के बावजूद मैं उन लोगों के साथ बेलूड़ मठ गया, परन्तु उस दिन संध्या को मैं महाराज से नहीं मिल सका।

अगले दिन प्रात:काल मैं पुन: मठ गया। महाराज बरामदे में बैठे थे। मैं उनके साथ चर्चा करने के लिए उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में बैठ गया। थोड़ी देर बाद उनका ध्यान मेरी ओर उन्मुख हुआ और वे बोले, "तुम वहाँ बैठे क्या कर रहे हो? जाओ गंगा में स्नान कर आओ।" क्या यह इस बात की ओर संकेत था कि आज वे मुझे दीक्षा देंगे? मुझे तो ऐसा ही लग रहा था, परन्तु निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता था। मैं भी उन तीन लोगों के साथ हो लिया, जिन्हें दीक्षा की पक्की अनुमति मिल चुकी थी। परन्तु मैं अन्तिम क्षणों तक दुविधा में ही पड़ा रहा। तदुपरान्त महाराज की कृपा से मुझे मेरी मनोवांछित वस्तु प्राप्त हुई।

महाराज जब सहज भाव से मुझे दीक्षा देने को राजी हुए थे और जब मुझे वास्तविक रूप से इसकी प्राप्ति हुई, इसके बीच के मेरे दो माह इतनी मानसिक अशान्ति तथा अनिश्चितता में बीते थे, मानो पूरा एक वर्ष बीत गया हो। सम्भव है कि महाराज ने मेरी व्याकुलता को बढ़ाने के लिए या फिर मेरी

निष्ठा को परखने के लिए ही जान-बूझकर इस भयानक मानसिक तनाव के बीच रखा हो। मेरे अन्य मित्रों के अनुभव से भी मेरे इसी विचार की पुष्टि हुई कि महाराज के प्रत्येक वाक्य तथा कार्य के पीछे प्रतीयमान से कहीं अधिक गूढ़ उद्देश्य निहित है।

महाराज के बेलूड़ मठ निवासकाल में मैंने वहाँ दुर्गापूजा देखी। तीन दिनों की पूजा के दौरान एक दिन मैंने महाराज को संध्या-आरती में बैठे देखा। अनेक संन्यासी तथा भक्त उपस्थित थे और आरती के समय सभी मौन खड़े थे। आरती के बाद विग्रह को चँवर डुलाने की प्रथा है। महाराज स्वयं ही भक्ति तथा शान्तिपूर्वक काफी काल तक चँवर डुलाते रहे। वह एक देवदुर्लभ दृश्य था। मूर्तिपूजा के बारे में एक अभिनव अन्तर्दृष्टि उत्पन्न करने को ऐसा एक ही दृश्य पर्याप्त था।

इसके बाद महाराज दक्षिण भारत की यात्रा पर चले गये और १९२१ ई. के अन्त में वहाँ से लौटकर भुवनेश्वर आये। वहाँ उनकी व्यक्तिगत देखरेख में एक मठ का निर्माण हुआ था। दिसम्बर के मध्य में मैं भुवनेश्वर जाते हुए कलकत्ते में ठहरा। भुवनेश्वर पहुँचकर महाराज के सान्निध्य में मेरी क्रिसमस सप्ताह मनाने की इच्छा थी। कलकत्ते में एक वरिष्ठ संन्यासी ने मुझसे पूछा, "क्या तुमने उनसे अनुमति प्राप्त कर ली है। बिना पूर्वसूचना के किसी का भुवनेश्वर जाना महाराज को पसन्द नहीं है।" मैंने महाराज को अनुमति के लिए पत्र तो नहीं लिखा था, परन्तु मैं उनके दर्शन करने का दृढ़ निश्चय कर चुका था। मैंने सोचा कि आवश्यकता हुई तो आश्रम के बाहर भी ठहर सकता हूँ, परन्तु जाऊँगा अवश्य। भुवनेश्वर पहुँचने पर महाराज ने मेरे बिना-अनुमति आने के विषय में जरा भी नाराजगी नहीं दिखायी। उनके सान्निध्य में रहते हुए मेरे चार-पाँच दिन बड़े ही आनन्द में बीते। उन दिनों वहाँ कटक से भी कुछ अतिथि आये हुए थे। महाराज उनकी सुविधा में व्यक्तिगत रूप से रुचि ले रहे थे। प्रतिदिन प्रात: और सायं जब महाराज मठ के चारों ओर फैले खुले मैदान में टहलने को निकलते, तो मैं भी उनके साथ हो लेता। बाकी समय विशेषकर जब महाराज मौन रहते, तो उनके पास पहुँचने का साहस जुटा पाना कठिन लगता था, परन्तु टहलते समय वे बड़े अलग भाव में रहते तथा खुलकर वार्तालाप करते थे। दो-तीन अन्य भक्त भी साथ हो लेते।

एक दिन बड़े सबेरे – सूर्योदय के पूर्व ही मैं महाराज के कमरे में गया। उस समय वहाँ वे अकेले थे। मुझे भय हो रहा था कि कहीं मैं उन्हें डिस्टर्ब तो नहीं कर रहा हूँ। परन्तु उनकी ओर से ऐसा कोई संकेत नहीं मिला। वे बड़े ही उदार मन:स्थिति में थे। मैंने उनसे दो-एक प्रश्न किये, फिर कहने लगा, "सुना है कि आपने वाराणसी में कुछ साधुओं से कहा है कि यदि कोई तीन वर्ष तक साधना करता रहे, तो उसे कुछ उपलब्धि होना अवश्यम्भावी है। मैं यथासम्भव आपके निर्देश पालन करने का प्रयास कर रहा हूँ, पर लगता नहीं कि मुझे कुछ लाभ हो रहा हो। लेकिन यह बात अवश्य है कि मैं आपके निर्देशों का यांत्रिक रूप से ही पालन कर पाता हूँ। प्रयास करना मात्र ही तो मेरे हाथों में है, परन्तु यदि उचित एकाग्रता न हो, तो मैं क्या कर सकता हूँ?" महाराज ने इस पर थोड़ी भी नाराजगी नहीं दिखाई और मुझे एक ऐसा उत्तर दिया, जिसने मेरा हृदय शान्त कर दिया और भविष्य के लिए मार्गदर्शन के रूप में भी वह बड़ा ही उपयोगी सिद्ध हुआ।

मेरे भुवनेश्वर-प्रवास के दौरान मठ में 'क्रिसमस-संध्या' मनायी गयी। इस अवसर पर ईसा मसीह का पूजन, बाइबिल से पाठ तथा भजन हुए। महाराज ने भी यह उत्सव देखा। ऐसे अवसरों पर उनकी उपस्थिति मात्र से ही एक ऐसे अद्भुत परिवेश की सृष्टि हो जाती थी, जो समारोह में भाग लेनेवाले सभी लोगों के मन को उन भावों में उन्नीत कर देती थी।

महाराज के साथ अपने संघ में प्रवेश के विषय में चर्चा करना ही मेरे भुवनेश्वर जाने का उद्देश्य था। एक दिन मैंने उनके समक्ष यह बात उठायी। सुनने के बाद उन्होंने मुझे एक सलाह दी। परन्तु मैंने स्पष्ट रूप से अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए बताया कि मैं किस कारण से उनके सुझाव पर अमल नहीं कर सकूँगा। वे बोले, "ठीक है, अप्रैल में मैं कलकत्ते में ही रहूँगा, वहीं आकर मुझसे मिलना।" मैंने भुवनेश्वर से विदा लेने की तिथि निर्धारित करके सबको बता दी थी, परन्तु महाराज को कहीं असुविधा न हो, इस भय से उन्हें इसकी सूचना नहीं दे सका था। मैं पुरीधाम होकर कलकत्ते जानेवाला था। प्रस्थान के पूर्व मैं महाराज से विदा लेने गया और उन्हें अपनी जाने की योजना बतायी। पर मुझे इस विषय में प्रोत्साहित करने के स्थान पर महाराज धीमे स्वर में स्वयं से कहने लगे, "वह पुरी जा रहा है।" मुझे लगा मानो उन्हें मेरा जाना या उसी दिन जाना पसन्द नहीं आया। मुझे बड़ा ही विस्मय हुआ। अब भी मैं उनके उन शब्दों का मर्म समझ नहीं सका हूँ। चूँकि मेरा कार्यक्रम पूर्व-नियोजित था, मैं उसमें परिवर्तन नहीं कर सकता था। मैंने महाराज के चरण स्पर्श किये और विदा ली। यही अवसर था, जब मैंने उनका अन्तिम बार दर्शन किया। आगामी अप्रैल में उन्होंने कलकत्ते में देहत्याग कर दिया और जुलाई में मैं बेलूड़ मठ जाकर संघ में सम्मिलित हो गया।

ज्यों-ज्यों दिन बीतते जा रहे हैं, महाराज मुझे महान् से महानतर प्रतीत होते हैं। और अब तो ऐसा लगता है कि वे जिस भूमि पर खड़े थे, वह भी परम पुनीत है। ❑❑❑

स्वामी ओंकारानन्द की स्मृतियाँ

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(१९७३ ई. के ८ मई को रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष स्वामी ओंकारानन्दजी ने महासमाधि ली। हावड़ा के रामकृष्ण-विवेकानन्द आश्रम ने उन पर एक ग्रन्थ निकालने का निर्णय लिया। पूज्यपाद महाराज ने उनके विषय में अपनी स्मृतिकथा लिख दी थी, जो 'श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द ओ धर्मप्रसंग' नामक बँगला ग्रन्थ में प्रकाशित हुई। प्रस्तुत है उसी का स्वामी विदेहात्मानन्दजी कृत हिन्दी अनुवाद। – सं.)

स्वामी ओंकारानन्द (अनंग महाराज) ने १९१९ ई. में श्रीरामकृष्ण संघ में प्रवेश किया। अपने छात्र-जीवन से ही वे कुछ मित्रों के साथ मठ में आया-जाया करते थे। पढ़ाई पूरी करने के बाद १९१९ ई. में वे लोग मठ में सम्मिलित हो गये। उन दिनों स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज भुवनेश्वर के नवनिर्मित मठ में निवास कर रहे थे – वे लोग वहीं उपस्थित हुए। १९२० ई. में स्वामीजी की जन्मतिथि पर श्री महाराज का आशीर्वाद पाकर वे लोग ब्रह्मचर्य-व्रत में दीक्षित हुए। जिन पाँच लोगों ने उस समय ब्रह्मचर्य-व्रत धारण किया था, महाराज ने उनमें से दो जन को मद्रास और दो को मायावती भेज दिया। अनंग महाराज (उनका नाम हुआ था अखण्ड-चैतन्य) को श्री महाराज ने बेलूड़ मठ में रख दिया। वहीं पर उन्होंने प्राय: पन्द्रह वर्षों तक निवास किया।

मैं मद्रास से १९२० ई. की शिवरात्रि के दिन भुवनेश्वर आया और श्री ठाकुर की तिथिपूजा के दिन मुझे श्री महाराज से संन्यास मिला। इसके कुछ दिनों बाद मैं वहाँ से बेलूड़ मठ चला आया। उसी समय अनंग महाराज के साथ मेरे परिचय तथा गहरी मित्रता का सूत्रपात हुआ। स्वामीजी के स्मृति-मन्दिर के पास मठ के दक्षिणी छोर पर गेस्ट हाउस (गिरीश भवन) है – उसी में हम तीन – मैं, अनंग महाराज तथा पशुपति महाराज (बाद में स्वामी विजयानन्द) रहते थे। हमारे साथ तारासार पण्डित महाशय भी रहते – वे मठ के साधु-ब्रह्मचारियों को शास्त्रपाठ कराते। इस शास्त्रपाठ में अनंग महाराज का विशेष आग्रह था और इसके लिये वे कोई भी कष्ट उठाने को प्रस्तुत थे। मठ में प्रवेश लेने के अल्प दिनों बाद से ही स्वामी शिवानन्द महाराज की देखरेख में उन्हें मठ के संचालन में भाग लेना पड़ा। इस कार्य में पशुपति महाराज भी उनकी थोड़ी-बहुत सहायता करते थे। अनंग महाराज को विशेष परिश्रम करना पड़ता था। तो भी अध्ययन के प्रति उनकी रुचि में लेश मात्र भी कमी नहीं आयी। कभी-कभी कामकाज के सिलसिले में उन्हें कलकत्ते जाना पड़ता था। उन दिनों बसें नहीं थीं। ट्रामगाड़ी से काफी देर तक यात्रा करनी पड़ती – वे सदा ही अपने साथ शास्त्र-ग्रन्थ रखते और ट्राम में बैठकर उसे पढ़ते। यदि काम के लिये उन्हें किसी दफ्तर में बैठकर प्रतीक्षा करनी पड़ती, तो वहाँ भी उनका अध्ययन चलता। उसके साथ ही वे प्रतिदिन काफी समय तक शास्त्राध्ययन करते – मठ में कामकाज का भारी दबाव था, तथापि सुबह-शाम काफी समय करते – इससे कभी विरत नहीं होते। पूजा-अनुष्ठानों में वे विशेष पारंगत थे। बेलूड़ मठ की दुर्गापूजा में उन्होंने अनेक वर्षों तक तंत्रधारक का कार्य किया था और अनेकों बार स्वयं ही कालीपूजा की थी। बाद के दिनों में जब उन्हें पूजा आदि करने की जरूरत नहीं पड़ती, तो यदि दुर्गापूजा के पूर्व देवीपक्ष पड़ता, तो प्रथम दस दिन वे मिताहार, जप-ध्यान तथा प्रार्थना आदि करते हुए बिताते।

अनंग महाराज बातचीत तथा चर्चा करने में विशेष कुशल थे। अद्भुत स्मरण-शक्ति से सम्पन्न होने के कारण विभिन्न ग्रन्थों तथा शास्त्रों से आवश्यक अंश सहज ही उद्धृत कर पाते थे। धर्म तथा शास्त्रों पर उनकी कक्षाएँ अत्यन्त आकर्षक होतीं – सर्वत्र ही उनकी कक्षाओं में काफी लोग उपस्थित होते। उनके व्याख्यान खूब प्रभावी तथा अर्थपूर्ण होते थे। वर्तमान जगत के वैज्ञानिक, सामाजिक तथा साम्यवादी विचारधारा के विषय में उन्हें विशेष ज्ञान था और वे वेदान्त मत के आधार पर इन सब विचारधाराओं के विभिन्न अंशों की अयौक्तिकता का खण्डन किया करते थे।

मैं पहले ही कह आया हूँ कि जब मैं मद्रास से बेलूड़ मठ आया, तब अनंग महाराज वहीं थे। प्रतिदिन सुबह-शाम जप -ध्यान के बाद कुछ समय हम श्री महापुरुष महाराज के सान्निध्य में बिताया करते थे। तब, विशेषकर संध्या के समय वहाँ हम दोनों के सिवाय प्राय: कोई नहीं रहता था। अनंग महाराज महापुरुष महाराज से विभिन्न विषयों पर प्रश्न करते। केवल साधना की विभिन्न अवस्थाओं के विषय में प्रश्न करते हों, ऐसी बात नहीं, और भी अनेक विषयों पर, विशेषकर श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द के विषय में वे महापुरुषजी की स्मृतिकथा सुनने की इच्छा प्रकट करते। सुयोग मिलने पर इसी प्रकार श्रीरामकृष्ण के अन्य शिष्यों से भी ऐसी ही बातें पूछते। अनंग महाराज के जिज्ञासु स्वभाव के कारण उनके स्मृति-भण्डार में बहुत-से रत्न संग्रहित थे। मैंने इन सब महापुरुषों की स्मृतिकथा लिखने के लिये अनेकों बार अनुरोध किया था। परन्तु दु:ख की बात यह है कि वह सफल नहीं हो सका। वे कुछ लिखना नहीं चाहते थे।

स्वामी ओंकारानन्द का जीवन श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द के प्रति समर्पित था। रामकृष्ण मठ तथा मिशन के मंगल को वे प्रथम स्थान देते थे। संघ की समस्याओं के

समाधान हेतु वे सर्वदा दूसरों के साथ सहयोग करने को तैयार थे। मठ से किसी कार्यवश कलकत्ते आने पर वे अद्वैत आश्रम (शंकर घोष लेन, वेलिंग्टन लेन) में आते। अनेक वर्षों पूर्व – १९३५-३६ की बात याद आती है – उनके साथ ब्रह्मचारियों के लिये एक प्रशिक्षण-केन्द्र की स्थापना की आवश्यकता पर चर्चा हुई थी। इन चर्चाओं में और भी कोई-कोई भाग लेता था। १९२९ ई. में जब हमारी किसी संस्था के संचालन को लेकर कोई जटिल समस्या आयी थी और संघ उस मामले में विशेष समस्या में पड़ा था, उस समय कुछ तरुण संन्यासियों ने पूरे मामले को समझकर संघ के सभी लोगों को इससे अवगत कराया और इस विषय में उपयुक्त सुधार तथा व्यवस्था अपनाने हेतु महापुरुष महाराज से विशेष आवेदन किया था। उन तरुण संन्यासियों में अनंग महाराज भी एक थे।

वाराणसी में एक बार फिर मुझे उनके साथ रहने का सुयोग मिला था। उसके बाद मैं संघ के मुख्यालय बेलूड़ मठ चला आया। बाद में वे वाराणसी अद्वैत आश्रम के अध्यक्ष हुए। वाराणसी में रहते समय उनकी शास्त्रपाठ की इच्छा विशेष रूप से फलीभूत हुई थी। वहाँ के एक विख्यात विद्वान् से उन्होंने न्याय तथा वेदान्त पढ़ा था।

१९२९ ई. में ओंकारानन्दजी बेलूड़ रामकृष्ण मठ के एक ट्रस्टी तथा रामकृष्ण मिशन की संचालिका-समिति के सदस्य निर्वाचित हुए। ट्रस्टी तथा संचालिका-समिति के सदस्य के रूप में वे जटिल समस्याओं के समाधान हेतु जो विचार व्यक्त करते, अन्य सदस्य उसे विशेष महत्त्व देते।

लोगों की सहायता करने के लिये वे सर्वदा ही तैयार रहते। आध्यात्मिक विषयों में आग्रही भक्तों का वे सतत मार्ग-दर्शन करते। आध्यात्मिक विषयों के अलावा अन्य विषयों में भी, यदि कोई किसी कठिनाई या असुविधा में पड़ा होता और यदि आवश्यकता होती, तो उनसे सलाह तथा सहायता माँगते ही प्राप्त हो जाता। जितने ही दिन बीतते जा रहे थे, उतना ही अधिक वे उन्मुक्त हृदय से अपने भाव प्रदान करते थे। जीवन के अन्तिम भाग में देखा गया कि अनंग महाराज अपने ज्ञान, हृदयवत्ता तथा आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा दूसरों को कल्याण-पथ पर अग्रसर कराने हेतु अतीव आकुल हैं। अन्ततः उनके विषय में यही कहा जा सकता है – वे सचमुच ही रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा के एक सुयोग्य सन्देशवाहक थे।''

❑❑❑

भारतीय जीवन-दृष्टि और पुरुषार्थ-चतुष्टय (२)

डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा,
पूर्व प्राध्यापिका, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

धर्मज्ञान के स्रोत

अब सामान्य और विशेष धर्मों पर दृष्टि डालने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि धर्मज्ञान के स्रोत क्या हैं। किनसे हमें धर्म का बोध होता है। शास्त्रकारों का मत है कि जब हमें किसी वस्तु के स्वरूप के बारे में जिज्ञासा होती है, तो इसका अर्थ है कि उस वस्तु का सामान्य ज्ञान हमें है, किन्तु उसके विशेष धर्मों के विषय में हमें जानकारी नहीं है अर्थात् हम विस्तार से उसके विषय में नहीं जानते हैं। निष्कर्ष यह है कि धर्म की एक धारणा, चाहे वह अस्पष्ट ही हो, मनुष्य के हृदय में नैसर्गिक रूप से विद्यमान होती है। धर्म की यह धारणा – उचित और अनुचित के रूप में सार्वजनीन है और जो लोग आत्मा की नित्यता, परलोक या आत्मा के आवागमन में विश्वास नहीं करते, वे भी कुछ नैतिक नियमों में विश्वास करते ही हैं। धर्म वस्तुतः नैतिक नियमों का समाहार ही है; सामान्य धर्मों की अवधारणा से यह बिल्कुल स्पष्ट है।

धर्म के विशिष्ट स्वरूप की जानकारी के लिये मुख्य रूप से दो प्रमाण स्वीकार किये जाते हैं – श्रुति और स्मृति। श्रुति वेदों को कहते हैं। स्मृति ग्रन्थ वे हैं, जो अति प्राचीन काल से चले आये आचार सम्बन्धी नियमों का संकलन हैं। सैद्धान्तिक रूप से यही मान्यता है कि स्मृतियाँ श्रुतियों में प्रतिपादित आचार-मूल्यों का वर्णन करती हैं, किन्तु वस्तुतः स्मृतियों में परवर्ती काल में विकसित अवधारणाओं का भी समावेश है। इनसे अनेक ऐसे तत्त्वों का भी प्रतिपादन है, जो श्रुतियों में नहीं मिलते। इस तरह स्मृतियाँ क्रमशः विकसित, विस्तृत और प्रौढ़ होती आचार-पद्धति और मूल्यबोध को सूचित करती हैं, जो व्यवहार में स्वीकृति पाता रहा। इतना होने पर भी परम प्रामाण्य श्रुति का ही है और स्मृति का उससे अविरुद्ध होना अनिवार्य है। जहाँ श्रुति मौन है वहाँ अवश्य स्मृति प्रमाण है। इन दो प्रधान प्रमाणों के अतिरिक्त दो प्रमाण और हैं, जो श्रुति-स्मृति से स्वतंत्र तो नहीं हैं, पर व्यवहार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। वे हैं आचार और आत्म-सन्तुष्टि। आचार किसी समाज में मान्यता प्राप्त व्यवहार सम्बन्धी मान्यताएँ हैं, जो उस समाज के सर्वोत्तम और आदरणीय व्यक्तियों के जीवन में दिखलाई देती हैं। इस प्रकार आचार सामाजिक स्वीकृति है और आत्मसन्तुष्टि आत्म-स्वीकृति है। जो करके आन्तरिक प्रसन्नता और सन्तोष हो, वह

धर्म है, किन्तु यह आत्मसन्तुष्टि जिस किसी व्यक्ति की नहीं, अपितु शिष्टजनों की होने पर ही धर्म का प्रमाण होगी। वशिष्ठ धर्मसूत्र में 'शिष्ट' व्यक्ति की बड़ी सुन्दर परिभाषा की गई है – **शिष्टः पुनः अकामात्मा** – शिष्ट वह है जो स्वार्थ-रहित हो। यही बात महाकवि कालिदास ने अपने नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में कही है – **सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः** – जहाँ श्रुति, स्मृति और आचार तीनों मौन हों, वहाँ सज्जनों की आन्तरिक प्रवृत्ति ही प्रमाण है।

अब संक्षेप में शास्त्रों द्वारा किये गये कर्मों के विश्लेषण पर दृष्टि डालना उचित होगा। शास्त्र तीन प्रकार से कर्मों का वर्गीकरण करते हैं – (१) नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध; (२) कायिक, वाचिक और मानसिक; तथा (३) साधारण धर्म और विशेष धर्म।

नित्यकर्म वे हैं जो अवश्य-करणीय हैं। संध्या-वन्दन, अग्निहोत्र और पंच-महायज्ञ आदि। इनके करने से पुण्य नहीं होता, परन्तु न करने से पाप अवश्य होता है – **नित्यानि अकरणे प्रत्यवाय-साधनानि**। प्रत्यवाय का अर्थ है आगामी दुःख। नित्य कर्मों को न करने से भविष्य में दुःख प्राप्त होता है। नैमित्तिक कर्म विशेष अवसरों पर श्रुति-स्मृति के द्वारा विहित कर्म हैं। इन्हें नित्यप्रति नहीं करना होता, किन्तु उन-उन निमित्तों के उपस्थित होने पर ये अवश्य-करणीय हैं। नैमित्तिक कर्म इहलोक और परलोक में व्यक्ति का मंगल करते हैं। फलप्राप्ति के उद्देश्य से, व्यक्तिगत अभीष्ट की कामना से किये जाने वाले कर्म काम्य-कर्म हैं, जैसे **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्**। वेदों में निषेधार्थक 'नञ' से सम्बद्ध वाक्यों जैसे **न हिंस्यात् सर्वभूतानि** – से जिनका बोध होता है कि वे निषिद्ध कर्म हैं। इसके अतिरिक्त भ्रम के कारण व्यक्ति जिन कर्मों को अपना इष्टसाधक समझ बैठता है, किन्तु जो वस्तुतः अनिष्ट का कारण बनते हैं, वे भी निषिद्ध कर्म ही हैं। इनके अतिरिक्त स्मृतियाँ विस्तार से प्रायश्चित्त कर्मों की भी चर्चा करती हैं। विहित कर्मों को न करने और निषिद्ध कर्मों को करने से जो पाप उत्पन्न होता है, उसके निवारण के लिये प्रायश्चित्त कर्मों का विधान है।

यदि इस वर्गीकरण पर विचार करें, तो मुख्य रूप से तीन वर्ग बनते हैं – नित्य, काम्य और प्रतिषिद्ध। नैमित्तिक कर्म भी अवसर उपस्थित होने पर, चूँकि श्रुति द्वारा अवश्य-करणीय रूप से विहित हैं, अतः उन्हें नित्य कर्मों के साथ रखा जा सकता है। नित्य और प्रतिषिद्ध विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि वे ही धर्म और अधर्म का स्वरूप हैं। अधर्म का त्याग धर्म के आचरण के समकक्ष ही महत्त्वपूर्ण है। स्पष्ट रूप से जिनका निषेध है, जैसे हिंसा, मद्यपान, परस्त्रीगमन आदि, उन कर्मों को करने पर व्यक्ति नित्य-नैमित्तिक आदि कर्मों के अनुष्ठान का अधिकार खो देता है। इसलिये अनेक स्मृतियों में प्रतिषिद्ध कर्मों अर्थात् अधर्म के स्वरूप पर भी विस्तार से विचार किया गया है। काम्य कर्म अभीष्ट की प्राप्ति के लिये सकाम भाव से किये जाने वाले कर्म हैं, किन्तु इनके लिये नित्य कर्मों की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये और प्रतिषिद्ध कर्मों का आचरण नहीं किया जाना चाहिये। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इच्छाएँ स्वाभाविक हैं और उनकी पूर्ति में दोष भी नहीं है, किन्तु यह पूर्ति विवेक और संयम के साथ होनी चाहिये। याज्ञवल्क्य स्मृति (१.७) में विवेक-संयुक्त इच्छा को धर्म का आधार बताया गया है – **सम्यक् संकल्पजः कामः**। मनुस्मृति में भी कहा गया है कि धर्म ही एकमात्र सहायक है, अतः उसका संचय करते रहना चाहिये, पर सभी प्राणियों को पीड़ा न पहुँचे यह ध्यान रखना चाहिये – **धर्म शनैः संचिनुयाद्-वल्मीकमिव पुत्तिकाः। परलोक-सहायार्थ सर्वभूतान्यपीडयन्**॥ (३.२३८)

कर्मविचार की दूसरी दृष्टि है – कायिक, वाचिक और मानसिक। कायिक और वाचिक प्रवृत्ति स्पष्टतः ही हमारे विचारों का प्रतिफलन है, अतः विचारों की पवित्रता और हितकारिता आवश्यक है। नैतिकता के सिद्धान्त केवल बाह्य क्रियाकलापों पर ही लागू नहीं होते वे हमारी मानसिकता और आन्तरिक क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं पर भी लागू होते हैं। महाभारत में कहा गया है कि धर्म भावमूलक है – **चित्तमूलो भवेद्धर्मः**' (१२.१९१.३१) जैसा भाव होगा, वैसी ही क्रिया होगी। अतः शुभ संकल्प – संकल्प मात्र नहीं रह जाने चाहिये; अपितु उनके अनुकूल क्रिया भी होनी चाहिये। शुक्रनीति में कहा गया है कि बुरे विचार भले ही वाणी या क्रिया के द्वारा व्यक्त न हो, किन्तु उनके परिणामस्वरूप दुःख अवश्य मिलता है; इसके विपरीत शुभ विचारों का लाभ तब तक नहीं मिलता, जब तक वे कार्य रूप में परिणत न हों।

कर्मविचार की तीसरी दृष्टि है साधारण और विशेष धर्मों की। इनमें कुछ कर्म विधिमुखेन कहे गये हैं और कुछ निषेधमुखेन अर्थात् कुछ नित्य या अवश्य-करणीय कर्म हैं और कुछ निषिद्ध कर्म हैं।

साधारण धर्म प्रायः सद्गुणों को सूचित करते हैं। ये साधारण धर्म मनुष्य के लिये कहे गये हैं, चाहे वह किसी वर्ण का हो और किसी भी आश्रम में हो। विशेष धर्म वर्णाश्रम धर्म कहलाते हैं, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि आश्रमों की दृष्टि से कहे गये हैं। विभिन्न स्मृतियों में इनकी लम्बी सूची प्राप्त होती है। सामान्य रूप से वर्णाश्रम धर्म धार्मिक क्रिया-कलाप रूप है, किन्तु इनका उद्देश्य भी व्यक्तिगत गुणों का विकास और चारित्रिक उत्थान है। व्यक्ति का उत्थान सामाजिक उन्नति में

साधन बनता है ।

साधारण धर्म – मनु ने दस प्रकार के धर्मों का नित्य विधान चारों आश्रमों में रहने वालों द्विजों के लिये किया है। ये दस धर्म इस प्रकार हैं –

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।। ६/९२

सन्तोष, क्षमा, मनोनिग्रह, अन्यायपूर्वक किसी का धन आदि न ग्रहण करना, शारीरिक व मानसिक पवित्रता, इन्द्रियसंयम, शास्त्रज्ञान, आत्मज्ञान, सत्य का पालन और क्रोध का कारण उपस्थित होने पर भी क्रोध न करना। समझ कर आचरण करने वाला द्विज परम गति रूप मोक्ष को प्राप्त होता है –

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते ।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ।। ६/९३

याज्ञवल्क्य स्मृति में भी धर्म के लक्षण इस प्रकार गिनाये गये हैं –

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ।।

धर्म का यह लक्षण भी लगभग मनु द्वारा दिये गये लक्षण की भाँति है। इसमें शास्त्रज्ञान और आत्मज्ञान की चर्चा अवश्य नहीं है और न ही याज्ञवल्क्य ने मोक्ष को इसका अन्तिम लक्ष्य स्वीकार किया है।

यह देखने वाली बात है कि इन धर्म-लक्षणों में अधिकांश निषेधपरक हैं और उनका सम्बन्ध मनुष्य के निजी चरित्र से है। इस तरह ये मनुष्य का निजी विकास अवश्य करते हैं, पर अलग से परोपकार या परानुग्रह का भाव व्यक्त नहीं करते, किन्तु यदि इस पर विचार करें, तो ये सारे ही व्यक्तिगत गुण अन्ततः दूसरों का कल्याण करते हैं। जो व्यक्ति अहिंसक है, क्षमाशील है, सन्तोषी है, दानी है, संयमी है, वह दूसरों का अपकार नहीं कर सकता, कल्याण ही करेगा। योगसूत्र '**अहिंसा-सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः यमाः**' (११.३०) पर भाष्य करते हुये व्यास ने अहिंसा का अर्थ सबके प्रति सदाशयता ही किया है – **सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः** – सदैव सब प्रकार से अर्थात् मन, वाणी और कर्म से सबके प्रति द्रोह न करना, उन्हें कष्ट न पहुँचाना ही अहिंसा है। इस तरह साधारण धर्म व्यक्तिगत होते हुये भी सार्वजनिक शुभ के साधक हैं।

वर्णाश्रम धर्म – वर्णाश्रम धर्म जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में समाज के विभिन्न वर्गों के कर्तव्य हैं। प्राचीन भारतीय समाज मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों और क्षमताओं के अनुसार चार वर्णों में बँटा था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र – समाज के सर्वांगीण विकास में अपनी-अपनी भूमिका निभाते थे। यद्यपि साधारण धर्म सभी के लिये अनुकरणीय आदर्श थे, किन्तु यदि सब एक-सा ही आचरण करेंगे, तो समाज एकांगी और असन्तुलित हो जायेगा। वर्णों की कल्पना भले ही आज पूर्ण रूप में न हो, किन्तु आज भी किसी भी समाज में परस्पर भिन्न रुचि और सामर्थ्य वाले समुदाय होते हैं; और उनके द्वारा समाज का विभिन्न दिशाओं में विकास होता है। यद्यपि धर्म की एक सामान्य अवधारणा सबके मन में होती है, किन्तु उसका प्रकाशन तभी हो सकता है जब व्यक्ति – समाज में अपनी विशिष्ट भूमिका और दायित्व पहचाने कि वह जो है और जिस स्थिति में है, उस स्थिति में उसका समाज के प्रति क्या कर्तव्य है। इस तरह ऋत और ऋण की अवधारणाओं को अपने भीतर आत्मसात करके जिस धर्म का विकास ब्राह्मण-काल के बाद हुआ, उसने विभिन्न व्यक्तियों की समाज में जो सापेक्ष भूमिका है, वह स्पष्ट रूप से रेखांकित की। इन भूमिकाओं का चरित्र, अलग-अलग भी हो सकता है, जैसे असन्तोषी ब्राह्मण नष्ट हो जाता है और सन्तोषी राजा पराभव को प्राप्त करता है – **असन्तुष्टो द्विजो नष्टः सन्तुष्टः इव पार्थिवः** ।

आश्रमों की यह जो परिकल्पना है, वह धर्म की अद्भुत उपलब्धि है। ये व्यक्ति के आन्तरिक विकास की अवस्थाएँ हैं, परम लक्ष्य तक पहुँचने के आध्यात्मिक सोपान हैं और साथ ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य के चित्त की क्रमशः बदलती हुई प्रकृति के अनुसार जीवन जीने की कला है। अपनी पुस्तक 'Philosopy of the Upanishads' (पृ.३६७) में प्रसिद्ध विद्वान डायसन ने लिखा है कि मनुष्य जाति ने अपने सम्पूर्ण इतिहास में ऐसी उपलब्धियाँ कम प्राप्त की है जो अपनी भव्यता में आश्रम व्यवस्था की बराबरी कर सकें – "The entire history of mankind does not produce much that approaches it in grandeur"

ये चार अवस्थाएँ या आश्रम (Stages of toil) इस प्रकार हैं – ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ।

ब्रह्मचर्य – यह वेदाध्ययन का काल था, जिसमें छात्र अत्यन्त सक्रिय किन्तु आत्मसंयम का जीवन बिताता था। यह आश्रम सभी द्विजों के लिये अनिवार्य था। इस आश्रम में प्रवेश किये बिना उन्हें गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अधिकार नहीं था। इस आश्रम में प्रवेश करने हेतु एक औपचारिक संस्कार होता था, जिसे उपनयन संस्कार कहते थे। उपनयन का शाब्दिक अर्थ है – 'गुरु के समीप ले जाना' । इस आश्रम के दो प्रयोजन थे – प्रथम यह कि व्यक्ति आत्मसंयम से रहना सीखे और द्वितीय कि वह अपने पूर्वजों के ज्ञान और संस्कृति का संवाहक बन सके, अगली पीढ़ी को उससे परिचित करा सके। गुरुकुल में रहते हुये छात्र यह सीखता था कि समाज के अन्य लोगों के साथ किस प्रकार सद्भावपूर्वक रहा जाय। ब्रह्मचारी के जीवन में विलासिता के लिये स्थान

नहीं था, वह भिक्षान्न पर अपना निर्वाह करता था। गुरु के साथ उसके परिवार के सदस्य के रूप में रहकर वह उनके आचरण से जो कुछ आत्मसात करता था, वह जीवन भर उसे प्रेरणा और दिशानिर्देश देता था।

गृहस्थाश्रम – गृहस्थाश्रम समाज का आधार है, वही अन्य आश्रमों को धारण करता है, विशेष रूप से ब्रह्मचारी और संन्यासी जिन्हें गृहस्थ के दान पर ही निर्भर रहना होता था। मनु कहते हैं –

यथावायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः।। ३/७७

जैसे सभी प्राणी वायु पर निर्भर रहते हैं, वैसे ही सभी आश्रम गृहस्थ पर निर्भर रहते हैं, वह समाज का प्राण है। बृहदारण्यक उपनिषद् में गृहस्थ के तीन कर्तव्य बताये गये हैं – (१) सन्तानप्राप्ति, (२) नैतिकतापूर्ण जीवन तथा विहित कर्त्तव्यों का अनुष्ठान और (३) तत्त्वज्ञान की प्राप्ति। मनु ने भी लगभग ऐसा ही कहा है। वे वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान और परोपकार को गृहस्थ का कर्तव्य कहते हैं। गृहस्थ के जीवन में पंच-महायज्ञों का अनुष्ठान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वे हैं – देवयजन, पितृतर्पण, स्वाध्याय, भूतबलि और अतिथि-सत्कार। इनके अर्थ तो स्पष्ट ही हैं। इनमें भूतबलि में श्वान, कौआ आदि पशु-पक्षियों को भोजन देना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना अतिथि का सत्कार करना। गृहस्थ व्यक्ति का अपने उत्थान और योगक्षेम के लिये प्रयत्न करना अनुचित नहीं है, पर उसे अपने विशिष्ट धर्मों अर्थात् कर्तव्यों का परित्याग नहीं करना है, न ही निषिद्ध कर्मों का आचरण करना है, चाहे उसके सर्वोच्च अभीष्ट का ही प्रश्न क्यों न हो। इस प्रकार गृहस्थ का आदर्श जीवन वह है जिसमें अर्थ और काम – धर्म के साथ सम्पन्न हों।

वानप्रस्थ – यह तीसरा आश्रम है। अपने जीवन के संध्या-काल में व्यक्ति अपने सामाजिक जीवन से मुक्ति प्राप्त कर, परिवार-सम्पत्ति पुत्रों को देकर वन में जाकर तपस्वी का जीवन बिताता था और एकान्त-सेवन कर अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयत्न करता था। इस आश्रम में भी वह सभी विहित कर्तव्यों और धार्मिक अनुष्ठानों का पालन करता था। वह आश्रम भी ब्रह्मचर्य की ही भाँति आत्मसंयम और आत्मत्याग का जीवन बिताने पर बल देता है।

संन्यास – यह चतुर्थाश्रम है जिसमें व्यक्ति सभी स्वार्थनिष्ठ कामनाओं का त्याग कर, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति द्वारा चरम लक्ष्य मोक्ष की साधना करता है। गृहस्थाश्रम के अपेक्षाकृत सांसारिक जीवन और संन्यास के पूर्णतः विरक्त जीवन के मध्य वानप्रस्थ की जीवनचर्या एक सीढ़ी बनती है। इस आश्रम में अर्थ और काम पुरुषार्थों का पूर्णतः परित्याग हो जाता है। संन्यासी बस उतने की कामना करता है जितने से उसकी शरीर-यात्रा चल जाय। वह पूर्ण अहिंसक होता है क्योंकि उसने प्राणिमात्र को अभय प्रदान किया है। मनु के शब्दों में संन्यासी को न जीवन में आसक्त होना चाहिये और न ही मृत्यु की आकांक्षा करनी चाहिये –

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा।। ६/४५

इस आश्रम में प्रविष्ट व्यक्ति को जिन तीन नामों से सम्बोधित किया जाता है, वे उसकी तीन विशेषताओं को सूचित करते हैं। संन्यासी इसलिये क्योंकि वह सर्वस्व का परित्याग करता है, भिक्षु इसलिये क्योंकि वह भिक्षान्न पर जीवित रहता है और परिव्राट् इसलिये क्योंकि वह निरन्तर विचरण करता है।

ऐसी बात नहीं कि संन्यासी का कोई कर्तव्य नहीं होता। वह विहित कर्मकाण्ड का त्याग करता है, विशेष रूप से गृहस्थ जीवन के कर्मकाण्ड का। ऐसा नहीं है कि वह लोक-कल्याण या लोक-संग्रह से विरत हो जाता है अथवा अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह जैसे साधारण धर्मों का पालन नहीं करता। प्राचीन काल में संन्यास आश्रम-व्यवस्था का अंग नहीं था, वह इन तीनों आश्रमों का अतिक्रमण था, इसलिये उसे 'अत्याश्रम' कहा जाता था। अनेक स्थानों पर प्रथम तीन आश्रमों को एक साथ रखकर संन्यास से उसका वैरस्य दिखाया गया है। कालान्तर में जब यह आश्रम-व्यवस्था का अंग बना, तब इसके दो प्रकार बताये गये। आत्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से जो संन्यास लिया जाता है, उसे 'विविदिषा-संन्यास' कहते हैं और आत्मज्ञान होने के फलस्वरूप जो संन्यास होता है, वह 'विद्वत्-संन्यास' है।

यदि हम इस विस्तृत कर्म-विवेचन पर दृष्टि डालें, तो दो प्रमुख कोटियाँ बनती हैं – अवश्य-करणीय या विहित कर्म और निषिद्ध कर्म। कालान्तर में आचरित होते-होते इनका स्वरूप इतना स्थिर हो जाता है कि ये सार्वकालिक प्रतिष्ठा पा लेते हैं; पर व्यवहार में ये पर्याप्त लचीले हैं। हमारे धर्मशास्त्र स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि हर युग में धर्म का स्वरूप बदलता है। मनु मानते हैं कि शास्त्रीय सिद्धान्तों की वेदानुकूल तर्कों से पुनर्व्याख्या की जा सकती है –

आर्ष धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतरः।। १०/१०६

इन सभी कर्मों के विषय में यह जानना चाहिये कि इनका उद्देश्य व्यक्तिगत हित-साधन के साथ सार्वजनीन कल्याण भी है। सुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यक-वार्तिक में कहा है कि चारों वर्णों के धर्म सामाजिक हित की ही सिद्धि करते है। जैसे चार व्यक्ति मिलकर शिविका का वहन करते है, वैसे ही चारों वर्ण मिलकर समाज को धारण करते हैं।

❖ (क्रमशः) ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२७०. तेज वही, जो सबको भावे

ज्येष्ठ मास में भगवान सूर्य द्वारा अग्निबाणों की तरह फेंकने वाली किरणों को सहन न कर पाने से उनकी पत्नी संज्ञा सदा आँखें बन्द कर लेती थी। एक दिन सूर्य ने रुष्ट होकर उससे पूछा, ''क्या तुम्हें मेरा तेजस्वी रूप पसन्द नहीं है?'' संज्ञा ने डरते हुए आँखें बन्द कर लीं। देखकर सूर्यदेव और भी उग्र हो गए। संज्ञा और भी डर गई। उसने वहाँ न रहने में ही भलाई समझी और उसने अपने पिता विश्वकर्मा के घर जाने का निश्चय किया। पितृगृह जाने से पूर्व उसने अपनी छाया को प्रगट करके उससे कहा, ''जब तक मैं वापस न लौटूँ, तुम मेरा स्थान लेना।'' अपनी दो सन्तानों – यम और यमुना को छाया के सुपुर्द करके वह मायके चली गई।

सूर्यदेव को संज्ञा के घर छोड़ कर चले जाने की बात ज्ञात नहीं हुई। वे छाया को ही संज्ञा समझने लगे। बाद में छाया से भी उनकी दो सन्तानें हुई – सावर्णि शनिदेव तथा तपति। एक दिन संज्ञापुत्र यम और छायापुत्र सावर्णि शनि में किसी बात पर झगड़ा हुआ। बात इतनी बढ़ गई कि यम ने सावर्णि पर प्रहार करने के लिये दाहिना पैर उठाया। अचानक छाया वहाँ आई और उसने यम को शाप दिया कि जिस पैर से तू प्रहार करना चाहता है, वह गल जाएगा। यम ने पिता के पास जाकर शाप की बात बता दी। सूर्य सोचने लगे कि क्या कोई माँ अपने ही पुत्र को इतना कठोर शाप दे सकती है? वे छाया के पास गए और उससे कहा, ''मेरा पक्का विश्वास है कि तुम यम की माँ नहीं हो।'' छाया को सही बात बतानी पड़ी। उसने यम से अपना शाप लौटाते हुए कहा कि तेरा दाहिना पैरा गलेगा नहीं, छोटा हो जायगा।

संज्ञा को घर लौटी देखकर पिता विश्वकर्मा ने कारण पूछा। उसे सारी बात बतानी पड़ी। उन्होंने संज्ञा को ससुराल लौट जाने को कहा, किन्तु संज्ञा वहाँ नहीं जाना चाहती थी। वह उत्तरकुरु में जाकर तप में लीन हो गई। सूर्य जब पत्नी को वापस लाने विश्वकर्मा के पास गये, तो उन्होंने बताया कि वह तपस्या कर रही है और कहा कि वे उसे मनाकर वापस भिजवा देंगे। जब उन्होंने संज्ञा से पुन: घर लौट जाने का अनुरोध किया, तो वह बोली, जब तक उनका रूप इतना सौम्य नहीं हो जाता कि मैं उनका अपलक दर्शन कर सकूँ, तब तक मैं नहीं जाऊँगी।'' विश्वकर्मा ने सूर्य का तेज घटाया और संज्ञा को जाने के लिये मनाया। संज्ञा लौटी और सहजता से सूर्यदेव के दर्शन कर सकी।

हमें अपनी शक्ति का उपयोग करते समय यह देखना चाहिये कि कहीं उससे दूसरों को पीड़ा तो नहीं हो रही है। हमें अपने क्रोध पर भी नियंत्रण रखना चाहिये और सदैव सबके हित की ही बात सोचनी चाहिये।

२७१. इन्द्रियों की माया विद्वानों को भी नचाती है

एक दिन महर्षि व्यास काव्य रचना कर रहे थे। उन्होंने लिखा – बलवान्-इन्द्रिय-ग्रामो विद्वांसम्-अपि कर्षति (इन्द्रियाँ बलवान हैं, विद्वान् ज्ञानी व्यक्ति को भी खींच ले जाती हैं।) पास खड़े शिष्य जैमिनी ने कहा, ''गुरुदेव, क्षमा करें, आपने भूल से – नापकर्षति (नहीं खींच पातीं) की जगह अपिकर्षति लिख दिया है।'' महर्षि बोले, ''मैंने ठीक ही लिखा है और यही संसार की वास्तविकता है।'' जैमिनी चुप रह गए, पर व्यासजी समझ गये कि शिष्य जैमिनी सन्तुष्ट नहीं हुआ है।

अगले दिन सुबह जब जैमिनी पूजा-पाठ की तैयारी में लगे थे, तभी सहसा जोरों की वर्षा होने लगी। थोड़ी ही देर में वहाँ एक सुन्दर युवती आई। उसे वर्षा से भीगी देख मुनि ने ओढ़ने के लिए उसे वल्कल वस्त्र दिया। वे पूजा करने के लिए आसन पर बैठे, तो स्त्री की सुन्दर मुखाकृति उन्हें विचलित करने लगी। आसन से उठकर उन्होंने स्त्री से पूछा, ''क्या तुम अकेली हो। क्या तुम्हारा विवाह नहीं हुआ?'' स्त्री के द्वारा 'नहीं' कहने पर मुनि ने कहा कि वे अविवाहित हैं, क्या वह उनसे विवाह करेगी?'' स्त्री बोली, ''मेरे पिता ने शर्त रखी है कि जो व्यक्ति मुझे अपनी पीठ पर बिठाकर चार चक्कर लगाएगा उसी से वे मेरा विवाह करेंगे।''

मुनि ने तत्काल उत्तर दिया, ''मुझे शर्त मंजूर है। मेरी पीठ पर बैठ जाओ।'' स्त्री ने वृक्ष की एक शाखा तोड़ी और उसे हाथ में लेकर मुनि की पीठ पर सवार हो गई। मुनि जब दौड़ने लगे, तो स्त्री उस शाखा से उन्हें मारने लगी। मुनि चुपचाप मार सहते रहे। अब स्त्री बोली, ''मुनिवर, अब तो आपको मालूम हो गया होगा कि 'विद्वांसम् अपि कर्षति' (इन्द्रियाँ ज्ञानी व्यक्ति को भी खींच ले जाती हैं।) ही सही है। मुनि ने स्त्री को पीठ पर से उतारकर उसकी ओर देखा, तो सामने वेदव्यास खड़े थे। उन्होंने लज्जित होकर कहा, ''हाँ गुरुदेव, आपने जो लिखा था वही सत्य है।''

अविद्या माया द्वारा प्रेरित मन तथा इन्द्रियों का भोग्य वस्तुओं के प्रति ऐसा अदम्य आकर्षण है कि काम-लिप्सा, धन-दौलत की इच्छा और नाम-यश की आकांक्षा के समक्ष बड़े-बड़े विद्वानों की विद्या-बुद्धि भी घास चरने लगती है।❑

स्वामी विवेकानन्द की हिमालय-यात्रा (६)

स्वामी विदेहात्मानन्द

अब तक हमने देखा कि स्वामी अखण्डानन्दजी के साथ स्वामीजी ने छह दिन नैनीताल में निवास किया और उसके बाद पहाड़ों, जंगलों के मार्ग से अल्मोड़ा की ओर चल पड़े। मार्ग में स्वामीजी को कई प्रकार की आध्यात्मिक तथा अलौकिक अनुभूतियाँ हुईं। अल्मोड़ा में लगभग एक सप्ताह के प्रवास के दौरान कुछ महत्त्वपूर्ण घटना हुईं और वे आगे बदरिकाश्रम के मार्ग पर चल पड़े। – सं.)

अल्मोड़ा का प्रवास

अगस्त (१८९०) के अन्तिम दिनों में अखण्डानन्द के साथ स्वामीजी अल्मोड़ा पहुँचे। हम पहले बता चुके हैं कि स्वामी सारदानन्द तथा कृपानन्द (वैकुण्ठनाथ सान्याल) वहाँ पहले से ही पाताल देवी के मन्दिर के निकट की कुटिया में तपस्या कर रहे थे। "अल्मोड़ा पहुँचने पर स्वामी अखण्डानन्द उन्हें अम्बादत्त के बगीचे में ले गए और उन्हें वहाँ रखकर अल्मोड़े में अन्यत्र (पाताल देवी मन्दिर के पास) तपस्यारत स्वामी सारदानन्द और कृपानन्द (वैकुण्ठनाथ सान्याल) नामक अन्य दो गुरुभाइयों को सूचना देने गए। सूचना मिलते ही ये दोनों अम्बादत्त के बगीचे को चले। उन लोगों ने थोड़ी ही दूर आगे जाने पर देखा कि स्वामीजी स्वयं उन लोगों की ओर आ रहे हैं। तब सभी एक साथ हो अपने आश्रयदाता लाला बद्री साह के घर पहुँचे। साह जी ने उन लोगों का सादर स्वागत किया। इस घर में श्रीकृष्ण जोशी नामक एक सिरिस्तेदार (अभिलेखकर्ता) के साथ संन्यास-ग्रहण की आवश्यकता के सम्बन्ध में स्वामीजी का लम्बा वाद-विवाद हुआ। स्वामीजी ने अपनी अनुभूति संवलित अकाट्य युक्तियों के द्वारा इस विषय को इस प्रकार समझा दिया कि जोशीजी यह मानने को विवश हो गए कि त्याग ही भारत का सर्वश्रेष्ठ आदर्श है।"[१]

एक अलौकिक घटना

स्वामीजी की बँगला जीवनी में वहाँ घटित एक विचित्र घटना का वर्णन है। वहाँ पाद-टिप्पणी में इसके परवर्ती काल में घटित होने की सम्भावना व्यक्त की गयी है। घटना इस प्रकार है – बद्री साह के घर में निवास के दौरान एक दिन संध्या के समय एक अद्भुत घटना हुई। वे लोग बैठे हुए थे, तभी गाँव के भीतर जोरों से ढोल बजने की आवाज सुनाई थी और थोड़ी देर बाद ही एक स्थानीय व्यक्ति ने आकर बद्री साह से कहा, "महाशय, जल्दी आइये, एक आदमी पर भूत चढ़ गया है।" बद्री साह तत्काल उठ खड़े हुए। स्वामीजी भी कुतूहलवश उनके साथ हो लिये। घटनास्थल पर पहुँचकर उन्होंने देखा कि भूताविष्ट व्यक्ति लेटा हुआ पीड़ा से छटपटा रहा है और अनेक लोग उसके चारों ओर बैठकर उसके हाथ-पैर पकड़कर दबाये हुए हैं। एक अन्य व्यक्ति (ओझा) भूत को भगाने के लिये मंत्रोच्चारण कर रहा है और बीच-बीच में एक लाल तपती हुई कुल्हाड़ी को उठाकर उसके शरीर पर जगह-जगह छुला रहा है। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि कुल्हाड़ी से उसके बालों या अंगों का स्पर्श किये जाने पर भी कुछ भी जल नहीं रहा है। इस घटना को देखकर स्वामीजी अवाक् रह गये। तभी गैरिक वस्त्रधारी महात्मा को देखते ही सभी उनके लिये सम्मानपूर्वक रास्ता छोड़कर किनारे खड़े हो गये और बोले, "महाराज, आप दया करके इस व्यक्ति को स्वस्थ कर दीजिये।" स्वामीजी तो केवल घटना को देखने आये थे; उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि उन्हें ओझा होकर भूत छुड़ाना पड़ेगा। परन्तु लोगों द्वारा बारम्बार अनुरोध के सामने हार मान कर आखिरकार वे प्रेताविष्ट व्यक्ति की ओर अग्रसर हुए। उसके पास पहुँचकर सबसे पहले वे कुल्हाड़ी की जाँच करने को प्रस्तुत हुए। तब तक उसकी लालिमा जा चुकी थी, तथापि उस पर हाथ लगाते ही हाथ में जलन होने लगी। उस समय वे भला भूत क्या छुड़ाते, स्वयं ही परेशान थे। खैर, उन्होंने अपनी हाथ की पीड़ा भुलाकर उस प्रेतग्रस्त के मस्तक पर हाथ रखा और एकाग्र चित्त से थोड़ी देर अपने इष्टदेव के मंत्र का जप किया। बड़े आश्चर्य की बात यह हुई कि वैसा करने के १०-१२ मिनट के भीतर ही वह व्यक्ति स्थिर हो गया और धीरे-धीरे पूरी तौर से शान्त तथा स्वस्थ हो उठा। स्वामीजी बताते हैं, "तब गाँव वालों की मेरे प्रति भक्ति का कोई ठिकाना न रहा। वे तो मुझे भगवान ही समझने लगे। परन्तु मैं इस घटना को कुछ भी नहीं समझ बाद में भी कुछ नहीं जान सका। अन्त में मैं और कुछ भी न कहकर घरवाले के साथ कुटिया में लौट आया। तब रात के कोई बारह बजे होंगे। आते ही लेट गया, परन्तु जलन के मारे और इस घटना का कोई भेद न निकाल सकने के कारण नींद नहीं आयी। जलती हुई कुल्हाड़ी से मनुष्य का शरीर दग्ध नहीं हुआ – यह सोचकर विचार करने लगा, 'There are more things in heaven and earth than dreamt of in your philosophy' – (पृथ्वी और स्वर्ग में ऐसी अनेक चीजें हैं, दर्शन-शास्त्री जिन्हें स्वप्न में भी नहीं देख सके हैं।)"[२]

१. युगनायक विवेकानन्द, नागपुर, सं. १९९८, खण्ड १, पृ. २४२

२. स्वामी विवेकानन्द (बंगला), प्रमथनाथ बसु, भाग १, पृ. १६२; विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, प्र. सं. १९६३, पृ. ६९-७०; Life of Swami Vivekananda, Mayawati, Vol. 2, 1913, P.113

कासार देवी की गुफा में

साहजी की श्रद्धा-भक्ति तथा अतिथि-परायणता देखकर स्वामीजी मुग्ध हो गये। बाद में उन्होंने कहा था – ऐसे भक्त संसार में विरल हैं। पुरानी अंग्रेजी जीवनी के अनुसार – इस विचित्र घटना के बाद स्वामीजी ने कुछ दिन और लाला बद्री साह के घर में निवास किया। इसके बाद वे कठोर साधना के निमित्त एक निर्जन गुफा में चले गये। वहाँ वे दिन-रात ध्यान और तपस्या करने लगे। उन्होंने परम सत्य की उपलब्धि का संकल्प कर रखा था। उस निर्जन में कोई भी प्राणी उनके ध्यान में बाधा नहीं डाल सकता था। वहाँ उन्हें कई आध्यात्मिक अनुभूतियाँ हुईं और उनका मुखमण्डल दिव्य तेज से आलोकित होने लगा। जब वे अपनी अनुभूतियों की चरम अवस्था में पहुँच रहे थे, तभी उनके चित्त में अपने चिर-अभिलषित व्यक्तिगत समाधि के परमानन्द की अनुभूति में डूबे रहने की इच्छा के स्थान पर कर्म की तीव्र प्रेरणा का बोध हुआ; और उसने मानो उन्हें बलपूर्वक उनकी साधनाओं से बाहर खींच निकाला। यह उनके लिये एक बड़ा ही विचित्र समय था। उनके गुरुभाई अखण्डानन्द ने इस विषय में कहा था, "मैंने पाया कि जब-जब स्वामीजी ने मौन तथा विशुद्ध साधनामय जीवन अपनाने की चेष्टा की, तब-तब परिस्थितियों के दबाव ने उसे छोड़ने के लिये विवश कर दिया। उन्होंने एक उद्देश्य की पूर्ति के लिये जन्म-ग्रहण किया था और उनकी अन्तर्निहित मूल प्रकृति ही उन्हें इस कार्यधारा को अपनाने के लिये विवश कर देती थी।" पहाड़ी गुफा में इस अनुभव के बाद अब उन्हें लगा कि इसी कर्मप्रेरणा का अनुसरण करना उचित होगा। अत: वे लाला बद्री साह के घर में अपने गुरुभाइयों के बीच लौट आये।[३]

इसी प्रसंग में भगिनी निवेदिता लिखती हैं – "इन्हीं दिनों उन्होंने कुछ माह एक पर्वती ग्राम के ऊपर स्थित एक गुफा में बिताये थे। मैंने केवल दो बार ही उन्हें इस अनुभव का उल्लेख करते सुना है। एक बार वे बोले, 'इन्हीं दिनों "मुझे कार्य करना होगा" – इस धारणा ने मुझे जितना अभिभूत किया, उतना पूरे जीवन में कभी नहीं किया। मानो मुझे बलपूर्वक गुफाओं के जीवन से निकालकर समतल प्रदेश में विचरण करने को विवश कर दिया गया था।" अन्य समय उन्होंने किसी से कहा था, "साधु की जीवनचर्या मात्र ही उसकी साधुता की परिचायक नहीं है, क्योंकि सम्भव है कि गुफा में बैठे-बैठे उसका सारा मन इसी बात से आच्छन्न हो जाय कि रात को कितनी रोटियाँ खाने को मिलेंगी!"[४]

३. Life of Swami Vivekananda, Mayawati, Vol. 2, 1913, P.114; स्वामी विवेकानन्द की अल्मोड़े की तीन यात्राएँ, श्रीमती ग्रेट्रुड इमर्सन सेन, श्रीरामकृष्ण कुटीर, १९६३, पृ. ७-८

४. Complete Works of Sister Nivedita, Vol. 1, p. 61

किसी भी ग्रन्थ में उक्त गुफा के नाम का उल्लेख नहीं मिलता, तथापि स्थानीय किंवदन्तियों से पता चलता है कि उन्होंने अल्मोड़े से करीब पाँच मील दूरी पर उत्तर-पूर्व में स्थित कासारदेवी की एक गुफा में यह साधना की थी।

बहन की आत्महत्या का समाचार

स्वामीजी जब गुफा छोड़कर अल्मोड़ा नगर में लौटे, तो साहजी के घर में एक भयानक समाचार उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। कुछ दिनों पूर्व (कलकत्ते से) एक टेलीग्राम भेजा गया था, जिसमें अत्यन्त प्रतिकूल तथा दयनीय परिस्थितियों में उनकी एक बहन की आत्महत्या का समाचार था। इससे उनके हृदय में बड़ी पीड़ा हुई; तथापि इस शोक के बीच भी उन्हें अन्य वास्तविकताएँ भी दीख पड़ीं। अपनी इस व्यक्तिगत शोक के माध्यम से, मानो उन्हें भारतीय नारियों की महान् समस्याओं के विषय में झटका देकर जगा दिया गया हो और उनके हृदय में देशभक्ति की ज्वाला को भड़का दिया हो।

इस प्रसंग में स्वामीजी के छोटे भाई महेन्द्रनाथ दत्त ने लिखा है, "जिस दिन मेरी छोटी बहन योगेन्द्रबाला ने सिमला पहाड़ में आत्महत्या की, नरेन्द्रनाथ उस समय अल्मोड़ा में थे। वह रविवार का दिन था, मैं वराहनगर मठ में गया और फिर बेलूड़ ग्राम में श्रीमाँ जिस मकान में रहती थीं, वहाँ गया। गिरीश बाबू भी उस दिन उस मकान में गये थे। योगेन महाराज व्यवस्थापक के रूप में रहते थे। सबने सलाह करके निश्चित किया कि नरेन्द्र को इसकी सूचना देना आवश्यक है। परन्तु नरेन्द्र को सूचित करने से वह नाराज होगा, इसलिये शरत् को समाचार देना ही उचित होगा। अत: योगेन महाराज, बाबूराम महाराज तथा मैं – हम तीनों ने हावड़ा स्टेशन पर जाकर अल्मोड़ा में बद्री साह के घर शरत् महाराज के नाम तार भेजा। शरत् महाराज ने यथासमय नरेन्द्रनाथ को वह तार सुनाया था।"

उन दिनों हिमालय में भीषण बाढ़ आयी हुई थी, जिसका प्रभाव कलकत्ते तक में आ पहुँचा था, इसी का एक सजीव वर्णन करते हुए उन्होंने अन्यत्र, और भी विस्तार से लिखा है, "सम्भवत: १८९० का वैशाख का महीना था। रविवार को सुबह सिमला पहाड़ से एक पत्र आया कि नरेन्द्रनाथ की छोटी बहन ने वहाँ आत्महत्या कर लिया है। वर्तमान लेखक शोकार्त मन से वराहनगर मठ के लिये चल पड़ा और साढ़े दस बजे वहाँ पहुँचा। मठ में तब शशी महाराज, शिवानन्द स्वामी, निरंजन महाराज, बाबूराम महाराज, दक्ष महाराज तथा सुरेन मुखोपाध्याय उपस्थित थे। ग्यारह बजे परमानिक घाट के पास के अश्वत्थ वृक्षवाले घाट पर सभी स्नान कर रहे थे। दाशरथी सान्याल भी सबके साथ बातें करते हुए स्नान

५. श्रीमत् सारदानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली, कोलकाता, सं.१३५५, पृ. ६४

कर रहे थे। सहसा देखने में आया कि गंगा के उत्तर की ओर से १०-१२ फीट या उससे भी ऊँची जलराशि धीरे-धीरे दक्षिण की ओर चली आ रही है। पहले से ही पुलिस की व्यवस्था थी। भीषण जलराशि देखकर सभी लोग नीचे से चढ़कर ऊपर के पक्के तटबन्ध पर चले आये। तीन-चार मिनट के भीतर ही जल ने आकर अश्वत्थ वृक्ष के एक तिहाई अंश को डुबा दिया। बाद में सम्भवत: वह वृक्ष पूरा डूब गया था। स्नान के बाद कुछ लोग वराहनगर मठ में आकर प्रसाद ग्रहण करने के बाद (गंगाजी के उस पार) बेलूड़ (घाट) जाने की तैयारी करने लगे। लगभग एक बजे वर्तमान लेखक तथा बाबूराम महाराज – दोनों जाकर एक नाव में बैठे। दक्ष महाराज जाकर पारघाटा तक पहुँचा आये। नाव गंगा के उस पार पहुँचकर घुसुड़ी के पास तेज धार में जा पड़ी। पानी तब तक अश्वत्थ वृक्ष के पत्तों तक पहुँच चुका था। अस्तु। ऊपर की जमीन पर उतरकर हम ज्योंही जाने लगे, त्योंही जल ने आकर ऊपर की भूमि पर आक्रमण किया और इसका कोई भेद ही नहीं रहा कहाँ जमीन है और कहाँ गंगा है।

"श्रीमाँ उन दिनों उसी स्थान पर एक मकान में निवास करती थीं। अब वह मकान टूटकर निश्चिह्न हो चुका है। वर्तमान लेखक का तत्काल योगेन महाराज से भेंट करना नितान्त आवश्यक था, इसलिये वे उनके पास गये। उस दिन रविवार था, गिरीश बाबू भी दो-एक लोगों को साथ लिये श्रीमाँ का दर्शन करने आये हुए थे। बाबूराम महाराज के भाई तुलसीराम, लाटू महाराज तथा अन्य छह-सात लोग भी वहाँ उपस्थित थे।

"हिमालय की एक पहाड़ टूटकर गणा या गोना नामक नदी के जल में आ पड़ने से कई वर्षों तक उसका जल अवरुद्ध था। वह स्थान नन्दप्रयाग के पास है। अवरोध के रूप में पड़ा दीवाल सरीखा पहाड़ के फट जाने से उससे अवरुद्ध जल भैरव-निनाद के साथ नीचे दौड़ने लगा और विभिन्न स्थानों को डुबाते हुए आखिरकार कलकत्ते आ पहुँचा था। इसी को गोना बाढ़ कहते हैं।

"(बेलूड़ के पास स्थित) घुसुड़ी गाँव की जमीन नीची होने के कारण पानी पीछे से घूमकर आते हुए गाँव के अनेक घरों को डुबाने लगा। कुछ घरों के लोग बिस्तर आदि लेकर दूसरी मंजिल पर चले गये, परन्तु जिनका मकान दुमंजला नहीं था, उनका सब कुछ डूबने लगा। चारों ओर हाहाकार मच गया। (बाद में) अपराह्न में तीन बजे जल का प्रकोप काफी घट गया और गाँव से पानी भी निकल गया था।

"नरेन्द्रनाथ, शरत् महाराज आदि कई लोग उस समय अल्मोड़ा में बद्री साह के यहाँ निवास कर रहे थे। योगेन महाराज, बाबूराम महाराज तथा गिरीश बाबू – इन तीनों ने मिलकर निर्णय किया कि शरत् महाराज के नाम से टेलीग्राम करने से वे उसे नरेन्द्रनाथ के पास भेजने की व्यवस्था कर सकेंगे, क्योंकि नरेन्द्रनाथ की माता (श्रीमती भुवनेश्वरी देवी) उस समय खूब शोकार्त हो पड़ी थीं।

"योगेन महाराज, बाबूराम महाराज तथा वर्तमान लेखक – एक नाव लेकर कलकत्ते की ओर चले। उस समय गंगा में और भी दो-चार नावें निकली हुई थीं। नाव मध्य भाग से चल रही थी। जब वह काशी मित्र घाट के पास पहुँची, तभी काशी मित्र का पूरा घाट ही सहसा जलमग्न हो गया। इससे पानी में बड़ी हलचल हुई और तरंगें उठीं, परन्तु हमारी नाम गंगा के बीच में होने के कारण उसे कोई क्षति नहीं पहुँची। गंगा में जो रक्षाबोया लगाये हुए थे, उनके ऊपर लगे छोटे-छोटे लाल निशान बँधे हुए थे। वे सब डूब गये थे, केवल निशान का लाल कपड़ा भर जल के ऊपर था। बागबाजार से पोल तक की जमीन ऊँची थी, वहाँ तक पानी नहीं चढ़ सका था। पोल एक विशाल त्रिभुज के आकार का हो गया था। बैलगाड़ियों तथा घोड़ागाड़ियों का आवागमन बन्द था। हमारी नौका बड़ाबजार के मिरबहर घाट पर लगी। हम तीनों बड़े कष्टपूर्वक उस तिकोने पोल से होकर पहाड़ की चढ़ाई तथा उतराई के समान हावड़ा स्टेशन गये और शरत् महाराज के नाम टेलीग्राम देकर पूर्ववत् पोल को पार करके रामतनु बोस की गली में लौट आये।

"नरेन्द्रनाथ की माता उस समय शोकार्त होकर रो रही थीं। योगेन महाराज तथा बाबूराम महाराज नरेन्द्रनाथ की माता के प्रति बड़ी श्रद्धाभाव रखते थे। वे भी योगेन महाराज तथा बाबूराम महाराज को अत्यन्त स्नेह करती थीं। बाबूराम शोकार्त होकर चुपचाप बैठे रहे और योगेन महाराज धीरे-धीरे बड़े मधुर शब्दों में उन्हें सांत्वना प्रदान करने लगे। रामतनु बोस की गली से बाहर की सीढ़ी से चढ़कर सभी लोग ऊपर के कमरे में बैठे हुए थे। इधर संध्या होने को आ गयी। सभी लोग अत्यन्त शोकमग्न थे। बातचीत के दौरान योगेन महाराज बोले कि मास्टर महाशय की एक पुत्री भी दिवंगत हो गयी है और इसके साथ ही और भी पाँच-सात लोगों की मृत्यु का समाचार दिया।

"योगेन महाराज तथा बाबूराम महाराज की मधुर, सहृदय तथा स्नेहपूर्ण बातों से नरेन्द्रनाथ की माता को काफी कुछ सांत्वना मिली। विभिन्न बातों के बाद रात के नौ बजे बाबूराम महाराज तथा योगेन महाराज बागबाजार लौट गये। योगेन महाराज का इतना स्नेहपूर्ण हृदय था, इतनी अद्भुत निर्णय-क्षमता थी, इतना नि:स्पृह निश्छल भाव था और इतने प्रकार से वे सबके साथ समान रूप से मिल-जुल पाते थे कि इस उदाहरण से उसका थोड़ा सा आभास मात्र मिल सकता है।[६]

६. स्वामीजीर जीवनेर घटनावली (बँगला), प्रथम खण्ड, पृ. २४७-८

बहन की आत्महत्या का मर्मान्तिक समाचार पढ़कर स्वामीजी का कोमल हृदय दु:ख-शोक से आन्दोलित हो उठा। फिर इस घटना के माध्यम से भारतीय नारियों के पीड़ामय जीवन का एक प्रत्यक्ष अनुभव भी उन्हें प्राप्त हुआ और इस समस्या के समाधान हेतु उनके प्राण तड़प उठे। पर तत्काल कर्मक्षेत्र में उतरना उनके लिए सम्भव नहीं था। अत: हृदय में असह्य वेदना को लिये वे हिमालय की ऊँचाइयों की ओर चल पड़े।

अनेक वर्षों बाद इस घटना की याद करते हुए उन्होंने १२ दिसम्बर १८९९ को श्रीमती बुल के नाम एक पत्र में लिखा था – "जिस शान्ति और निर्जनता की खोज मैं बहुत समय से कर रहा हूँ, वह मेरे भाग्य में अभी तक नहीं जुटी। अनेक वर्षों के पूर्व मैं हिमालय गया था, मन में यह दृढ़ निश्चय कर कि मैं वापस नहीं आऊँगा। इधर मुझे समाचार मिला कि मेरी बहन ने आत्महत्या कर ली। फिर मेरे दुर्बल हृदय ने मुझे उस शान्ति की आशा से दूर फेंक दिया। उसी दुर्बल हृदय ने, जिन्हें मैं प्यार करता हूँ, उनके लिए भिक्षा माँगने मुझे भारत से दूर फेंक दिया, और इसीलिए आज मैं अमेरिका में हूँ! शान्ति का मैं प्यासा हूँ; किन्तु प्यार के कारण मेरे हृदय ने मुझे उसे न पाने दिया। संग्राम और यातनाएँ, यातनाएँ और संग्राम! ... रावण ने साक्षात् भगवान के साथ युद्ध कर तीन जन्म में मुक्तिलाभ किया था! महामाया के साथ युद्ध करना तो गौरव की बात है।"[७]

सारदानन्द का पत्र

उन दिनों स्वामीजी ने अपने गुरुभाइयों को पत्र आदि लिखकर परिचितों से सम्पर्क बनाये रखने से मना कर दिया था। अल्मोड़ा से स्वामी सारदानन्द ने ५ सितम्बर १८९० को एक पत्र में लिखा है, "नरेन्द्र तथा गंगाधर ५-७ दिन हुए यहाँ आये हुए हैं। अब पुन: गढ़वाल की ओर रवाना होंगे। नरेन्द्र के बारम्बार मना करने के कारण आपको इतने दिन उत्तर नहीं दे सका। इसके लिये क्षमा करेंगे। हम लोग भी नरेन्द्र के साथ जाने वाले हैं। कुछ काल पत्र आदि नहीं लिखेंगे, अन्यथा वे हमें अपने साथ नहीं रखेंगे।"[८]

७. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ७, प्र. सं. १९६३, पृ. ३९६-९७

स्वामीजी तथा उनके गुरुभाइयों के अल्मोड़ा प्रवास तथा वहाँ से उत्तराखण्ड की यात्रा के विषय में समकालीन दलीलों तथा पत्रों का अभाव है। इसका कारण है कि इन दिनों स्वामीजी अत्यन्त उच्च भावों में डूबे रहते थे और वे न तो स्वयं कोई पत्र लिखते थे और न ही अपने अन्य गुरुभाइयों को पत्र-व्यवहार की अनुमति देते थे। सम्भवत: इसका कारण यह था कि अपनी बहन की आत्महत्या की सूचना पाने के बाद से उन्हें लगा कि समाचारों के आदान-प्रदान से अपने मूल उद्देश्य में विक्षेप उत्पन्न होगा। उस समय वे पूरी तौर से तीर्थ तथा तपस्या की मन:स्थिति में थे। ऐसा ही संकेत स्वामी सारदानन्द के ५ सितम्बर के पत्र में भी मिलता है। और यही कारण है कि स्वामीजी की पत्रावली में १५ जुलाई १८९० से १४ अप्रैल १८९१ तक के नौ महीनों के दौरान उनका लिखा हुआ कोई भी पत्र नहीं मिलता।

इस हिमालय-यात्रा के बाद मेरठ से १४ नवम्बर '९० को स्वामी अखण्डानन्द ने प्रमदादास मित्र के नाम एक पत्र में इस यात्रा का एक विहंगावलोकन दिया है – "अल्मोड़ा (पहुँचने के बाद) से आपको कोई समाचार नहीं दिया गया है। इसके लिये क्षमा करेंगे। हम लोग नैनीताल होकर (वहाँ के तालाब में स्नान करके मेरे बाएँ ओर के पंजर में थोड़ा दर्द होने लगा।) अल्मोड़ा पहुँचे। वहाँ भाई शरत्चन्द्र तथा सान्याल के साथ भेंट हुई। अल्मोड़ा में हम लोग एक सप्ताह से अधिक काल ठहरे। मैं वहाँ प्रतिदिन निर्मल तथा शीतल झरने में स्नान करता था। पूजनीय भाई (स्वामीजी) को वह स्थान पसन्द न आने के कारण, भागीरथी के तट पर रहने की इच्छा से हम चार लोगों ने वहाँ से प्रस्थान किया। मैं भयंकर कालरोग से आक्रान्त होकर रास्ता चलने लगा।"[९]

उन्होंने ५ सितम्बर को अल्मोड़ा से कर्णप्रयाग तथा श्रीनगर के मार्ग से बद्रीनारायण धाम की ओर यात्रा आरम्भ की। साथ में चले स्वामी सारदानन्द, अखण्डानन्द, कृपानन्द और सामान ढोनेवाला एक कुली। ❖ (क्रमशः) ❖

८. स्वामी सारदानन्द (बँगला), ब्र. अक्षयचैतन्य, प्रथम सं., पृ, ४८
९. शरणागति ओ सेवा (बँगला), पृ. ६५-६७

स्वयं को जानो

तुम्हें कौन दुर्बल बना सकता है? तुम्हें कौन भयभीत कर सकता है? जगत् में तुम्हीं तो एकमात्र सत्ता हो। अत: उठो और मुक्त हो जाओ।... मनुष्य को दुर्बल और भयभीत बनानेवाला संसार में जो कुछ है, वही पाप है और उसी से बचना चाहिए। तुम्हें कौन भयभीत कर सकता है? यदि सैकड़ों सूर्य पृथ्वी पर गिर पड़ें, सैकड़ों चन्द्र चूर-चूर हो जायँ, एक के बाद एक ब्रह्माण्ड विनष्ट होते चले जायँ, तो भी तुम्हारे लिए क्या? पर्वत की भाँति अटल रहो; तुम अविनाशी हो। तुम आत्मा हो, तुम्हीं जगत् के ईश्वर हो। कहो, "शिवोऽहम् – मैं पूर्ण सच्चिदानन्द हूँ।" पिंजड़े को तोड़ डालने वाले सिंह की भाँति तुम अपने बन्धन तोड़कर सदा के लिए मुक्त हो जाओ। – ***स्वामी विवेकानन्द***

स्वामी शुद्धानन्द (७)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

यहाँ हम एक अन्य घटना का उल्लेख करते हैं, जिससे पता चलता है कि शुद्धानन्द की विचार तथा बुद्धि पर स्वामी सारदानन्द का कितना विश्वास था और साथ ही उनके हृदय का एक अदृश्य पक्ष भी प्रकट होता है। हमारा संकेत उनकी मातृभक्ति के प्रति है। २१ जुलाई १९२० ई. को श्रीमाँ सारदादेवी ने लीला-संवरण किया। माँ के तिरोभाव के बाद सभी को ऐसा लग रहा था कि भक्तों के हृदय में संरक्षित उनके उपदेशों का संकलन होना चाहिये। माँ के निष्ठावान सेवक स्वामी अरूपानन्द के प्रयासों से माँ के वार्तालापों का संकलन हुआ। उस समय स्वामी शुद्धानन्द के प्रोत्साहन तथा प्रेरणा ने ही अरूपानन्द को इसके लिये शक्ति मिली थी। पर माँ के इन वार्तालापों के प्रकाशन के पूर्व उसमें संकलित बातों के सावधानी के साथ सम्पादन करने की आवश्यकता थी। इसलिये प्रस्ताव रखा गया कि श्रीमाँ के वरिष्ठतम सन्तान स्वामी सारदानन्द स्वयं इस संकलन की पूरी पाण्डुलिपि का संशोधन कर दें। परन्तु सारदानन्द जी एक शर्त पर इसके लिये राजी हुए थे, "सुधीर भी यदि मेरे साथ रहे, तभी मेरे द्वारा यह कार्य सम्भव हो सकेगा।" वैसा ही हुआ – उद्बोधन-भवन में प्रतिदिन संध्या की आरती के बाद सारदानन्द जी के कमरे में उस पाण्डुलिपि का पाठ होता – सारदानन्द जी और शुद्धानन्द एक साथ बैठकर तन्मयता के साथ उस अमृतवाणी का श्रवण करते और आवश्यक स्थानों पर संशोधन के लिये अपना मत भी व्यक्त करते। कहना न होगा कि इन दोनों के साग्रह अनुमोदन के बाद 'श्रीश्रीमायेर कथा' (माँ की बातें) ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हुई। यहाँ स्मरणीय है, इन्हीं दिनों शुद्धानन्द जी ने एक टिप्पणी की थी, "स्वामीजी ने कहा है कि ठाकुर की एक-एक उक्ति के आधार पर दर्जनों दर्शन-शास्त्र लिखे जा सकते हैं; और मैं देख रहा हूँ कि माँ की एक-एक उक्ति को ले कर हजारों ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं।" शुद्धानन्द जैसे ज्ञानी के मुख से निकली यह उक्ति गम्भीर तात्पर्य से परिपूर्ण है।

यहाँ एक अन्य घटना का भी उल्लेख किया जा सकता है। स्वामी विवेकानन्द एक बार अपने इन शिष्य को साथ लेकर श्रीमाँ के पास गये थे। उन्होंने स्वयं माँ के चरणों में लोटकर प्रणाम करने के बाद शिष्य को भी प्रणाम करने का आदेश दिया। शुद्धानन्द द्वारा प्रणाम करके उठकर खड़े होते ही स्वामीजी उन्हें डाँटते हुए बोले, "यह क्या? माँ को कैसे प्रणाम किया जाता है, यह तुम्हें अभी तक नहीं मालूम? यह देख कैसे किया जाता है!" इतना कहने के बाद स्वामीजी ने धरती पर लोटकर एक बार फिर माँ के चरणों में साष्टांग दण्डवत किया। शुद्धानन्द भी तत्काल अपने गुरुदेव का अनुसरण करते हुए श्रीमाँ के चरणों में गिर पड़े। उस दिन अपने प्रिय शिष्य की ज्ञान-प्राप्ति हेतु स्वामीजी ने स्वयं ही ज्ञानदायिनी श्रीमाँ से आशीर्वाद की याचना की थी। आत्मज्ञ शुद्धानन्द के जीवन-इतिहास की यह एक असाधारण घटना थी।

यहाँ एक छोटी-सी घटना का उल्लेख करते हैं – आशा है यह अप्रासंगिक न होगी। आपात् दृष्टि से हास्यास्पद प्रतीत होने पर भी, इस घटना से पता चलता है कि किस प्रकार शुद्धानन्द की ज्ञानदृष्टि ने श्रीमाँ के वास्तविक स्वरूप को पहचान लिया था। उद्बोधन कार्यालय के एक कर्मी चन्द्रमोहन दत्त श्रीमाँ के विशेष स्नेहभाजन थे। अपने इस स्नेहगर्वित शिष्य के लिये माँ के द्वार सर्वदा खुले रहते थे और वे बारम्बार किसी-न-किसी कार्य के लिये माँ के पास जाते रहते थे। एक दिन शुद्धानन्द ने हँसते हुए उनसे कहा, "चन्द्र, तुम तो हमेशा माँ के पास जाकर प्रसाद खाते रहते हो; एक बात कहता हूँ, क्या तुम उसे माँ से कह सकोगे?" चन्द्रबाबू ने गर्वपूर्वक उत्तर दिया, "क्यों नहीं कह सकूँगा?" शुद्धानन्द गम्भीरता के साथ बोले, "क्या तुम माँ से कह सकोगे कि 'माँ, मैं मुक्ति चाहता हूँ'?" चन्द्रबाबू अधीर होकर बोले, "ठहर जाइये, मैं अभी कहकर आता हूँ।" इसके परवर्ती अंश का वर्णन न करने से भी काम चल जायेगा। अस्तु, चन्द्रबाबू आखिरकार माँ से केवल प्रसाद ही माँग सके थे और उसे लेकर आनन्दपूर्वक लौट आये थे; बहुत कोशिश करके भी मुक्ति नहीं माँग सके – वहाँ जाते ही वह बात वे पूरी तौर से भूल गये थे।

शुद्धानन्द की जीवन-संध्या के समय लिखित एक पत्र में हमें उनके हृदय की गहराई से व्यक्त हुए भाव तथा भाषा में लिपिबद्ध माँ का एक अकृत्रिम चित्र प्राप्त होता है। पत्र उनके महाप्रयाण के केवल कुछ माह पूर्व १७ जनवरी १९३८ ई. को लिखा गया था। देश-विदेश में माँ की अनेक जीवनियाँ लिखी गयी हैं – विभिन्न दृष्टिकोणों से

माँ के जीवन के कितने ही पहलुओं को देखने का सुयोग हमें मिल रहा है ! परन्तु शुद्धानन्द जी के पत्र में लिपिबद्ध माँ का यह सरल चित्र न केवल बेजोड़ है, अपितु कई दृष्टियों से अद्वितीय भी है । पत्र में उनकी स्वत:स्फूर्त मातृ-प्रशस्ति इस प्रकार है –

"श्रीमाँ हर दृष्टि से माँ ही हैं, साक्षात् जगदम्बा हैं। ऐसी सहनशीलता, महिमा और आध्यात्मिक शक्तिमत्ता उन्हीं में सम्भव है । बाहर वे एक साधारण महिला के समान गृह-कर्म, कुटुम्ब तथा आश्रितों की सेवा में व्यस्त रहती थीं – उनकी करुणा तथा स्नेह-वितरण में पात्र-अपात्र का विचार न था। मनुष्य से लेकर जीव-जन्तु तक – कोई भी उनके स्नेह तथा करुणा से वंचित नहीं होता था। वे परम लज्जाशील थीं। उनके सिर पर सर्वदा एक लम्बा-सा घूँघट पड़ा रहता था। विश्व को नारी जाति का आदर्श दिखाने के लिये श्रीरामकृष्ण इस बार पवित्रता की विग्रह-स्वरूपिणी माँ को साथ ले आये थे। उनके बारे में कितनी बार कहूँ – एक वाक्य में वे माँ – सबकी माँ – सचमुच की माँ थीं।"

श्रीरामकृष्ण की ही भावविग्रह जननी सारदादेवी शुद्धानन्द जी की बोधदृष्टि में कहाँ स्थित थीं – यह उनके असंख्य विचारों तथा वाक्यों के माध्यम से प्रकट हुआ। एक बार एक जिज्ञासु ने अपने मन के स्थिर न होने की शिकायत करते हुए उनके समक्ष अपनी अनेक दुर्बलताओं के बारे में उन्हें अवगत कराया था। चंचल मन को शान्त करने का एक अद्भुत सहज नुस्खा शुद्धानन्द जी ने उन जिज्ञासु को लिख भेजा था। अति सरल भाषा में उन्होंने उनके पत्र का उत्तर दिया था, "जप के साथ-साथ ठाकुर तथा माँ की मूर्ति का चिन्तन करना, ऐसा करने से मन सहज ही स्थिर हो जायेगा।" आत्मज्ञ पुरुष की सहज अनुभूति से नि:स्रित उपदेश ऐसे ही सहज हुआ करते हैं।

१९३७ ई. की फरवरी में शुद्धानन्द जी संघ के सह-अध्यक्ष निर्वाचित हुए। परन्तु अगले वर्ष के अप्रैल में ही विधाता का चक्र एक बार फिर घूमा। २८ अप्रैल १९३८ को संघाध्यक्ष स्वामी विज्ञानानन्द जी ने इलाहाबाद के मुट्ठीगंज में स्थित आश्रम में महासमाधि ले ली। इसके बाद १८ मई से स्वामी शुद्धानन्द जी समग्र रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महाध्यक्ष पद पर अधिष्ठित हुए। श्रीरामकृष्ण के शिष्यों के बाद, स्वामीजी के शिष्यों में सर्वप्रथम वे ही इस पद पर आसीन हुए। शुद्धानन्द जी संघ के पंचम अध्यक्ष हुए। संघ के साधु-ब्रह्मचारी नवीन मठाधीश के नेतृत्व में आशा तथा आनन्द में उत्फुल्ल हो उठे। उनके त्याग से उद्दीप्त अनाडम्बर प्रेमपूर्ण जीवन ने सभी को आकृष्ट किया था। परन्तु हाय, संघ-विधाता के विधान को बदलने की क्षमता किसी में भी न थी ! किसे पता था कि छह महीने बीतते-न-बीतते उनका भी इहलोक का कार्य समाप्त हो जायगा ! अस्तु, अति अल्प काल के लिये ही सही शुद्धानन्द जी की अध्यक्षता रामकृष्ण-संघ के साधु-भक्तों के हृदय में एक गहन तथा स्थायी चिह्न छोड़ गयी है।

शुद्धानन्द जी के जीवन में हृदय तथा मस्तिष्क का जो सम्मिलन दीख पड़ा था, वैसा इस द्वन्द्वमय संसार में सचमुच ही अत्यन्त दुर्लभ है। स्वामीजी के आशीर्वाद से ही उनके जीवन का सर्वांगीण विकास सम्भव हो सका था। वे निरन्तर अद्वैत-वेदान्त के विचार तथा साधना में लगे रहते थे, तथापि संसार के अति तुच्छ दु:ख-पीड़ाओं को भी अपने पूरे हृदय से अनुभव करते थे। कोई निर्धन छात्र हो या अभावग्रस्त व्यक्ति – सबकी उनके पास तक अबाध गति थी। यहाँ तक कि अपनी अत्यन्त आवश्यकता की वस्तुएँ भी वे उन लोगों में वितरण कर देते और इसी में तृप्ति का बोध करते। स्वामीजी ने एक बार उनसे कहा था, "ऐसा भी समय आयेगा, जब एक चिलम तम्बाकू सजाकर किसी की सेवा करना कोटि-कोटि ध्यान से भी बड़ा समझ सकोगे।" गुरु की कृपा से शुद्धानन्द जी के जीवन में सेवा के इस उच्च आदर्श का यथार्थ रूप से प्रस्फुटन हुआ था। मठ के नवीन संन्यासी-ब्रह्मचारियों के लिये वे मानो एक स्नेहमय पिता के समान थे। और पुराने लोगों के लिये वे मानो एक सहोदर ज्येष्ठ भ्राता थे।

कुछ दिनों से वे रक्तचाप की वृद्धि से पीड़ित थे, तथापि वे कभी दर्शनार्थी धर्म-जिज्ञासुओं को वापस नहीं लौटाते थे। इसके साथ ही उनमें गुरु होने का अभिमान भी न था। एक बार एक भक्तिमान युवक उनसे दीक्षा पाने की कामना से काफी दूर से आकर मठ में निवास कर रहा था। प्रतिदिन सुबह-शाम वह उनके पास बैठकर उनके समक्ष अपने हृदय की आकांक्षा व्यक्त करता था। एक दिन शाम को वह युवक शुद्धानन्द जी के चरणों में बैठा था, तभी निर्मल महाराज (स्वामी माधवानन्द) ने आकर संघगुरु के चरणों में प्रणाम किया। उस समय आचार्य के आसन पर आसीन होकर भी निरभिमान शुद्धानन्द जी उस दिन एक सरल बालक के समान बोल उठे थे, "देखो निर्मल, यह बालक मुझसे दीक्षा लेने आया है। सोच रहा है कि मैं अध्यक्ष हूँ। ... देखो भाई, मेरा अपना ही तो कुछ हुआ नहीं ! अब से तुम्हीं लोग दीक्षा आदि देना शुरू करो।"

यह घटना आपात् दृष्टि से सामान्य प्रतीत होने पर भी, जगत् के धर्मेतिहास में परम निरभिमानिता का एक उज्ज्वल दृष्टान्त है। शास्त्रों में कथित 'अभिमानं सुरापानम्' और 'प्रतिष्ठा-शूकरी-विष्ठा' मानना ऐसे ही ब्रह्मज्ञ पुरुषों के लिये सम्भव

है। इस घटना के पीछे एक अन्य गूढ़ तात्पर्य भी निहित था। जिन निर्मल महाराज को शुद्धानन्द जी ने कहा था कि 'अब से तुम्हीं लोग दीक्षा आदि देना शुरू करो'; उन्हीं स्वामी माधवानन्द को परवर्ती काल में विधाता के अलंघ्य विधान से सचमुच ही गुरु के आसन पर विराजित होना पड़ा था। इस प्रकार शुद्धानन्द जी के मुख से उच्चरित एक छोटा-सा वाक्य भी कालान्तर में सत्य सिद्ध हुआ – यह एक गूढ़ इतिहास है और शुद्धानन्द जी के भविष्य-द्रष्टृत्व का सूचक है। उनके समान अति अद्भुत निरभिमान एवं ईश्वर-केन्द्रित जीवन परम दुर्लभ है। उनके अपने जीवन के बारे में जानने के लिये उत्सुक एक तरुण को उन्होंने लिखा था, "स्वामीजी और उनके गुरुभाइयों के उपदेश तथा स्मृतियाँ ही मेरे जीवन का एकमात्र अवलम्बन हैं।"

अपने शिष्य स्थानीय एक युवक को एक पत्र में उन्होंने लिखा है, "ठाकुर से प्रार्थना करता हूँ कि वे तुम्हारे शरीर-मन को तोड़कर अपने नये साँचे में गढ़ लें। तुम भी ठाकुर से मेरे लिये प्रार्थना करो कि मेरा मन उन्हीं में तन्मय हो जाय, घुल-मिल जाय। मेरा स्नेह तथा आशीर्वाद, प्रेमालिंगन तथा जीवन-मरण में अनन्त प्रेम ग्रहण करना।" ऐसे निरहंकारी संवेदनशील शुभाकांक्षी जगत् में अति अल्प ही आते हैं।

ऐसी ही अनुपम सहानुभूति से युक्त एक अन्य पत्र में उन्होंने लिखा था, "तुम्हारे घर के कुछ समाचारों से अवगत हुआ। साथ ही तुमने लिखा है, 'आपको यह सब सूचित करके अपने दुःखों में भागीदार नहीं बनाऊँगा।' क्या तुम नहीं जानते कि मैं तुम्हारे सुख-दुःखों की सारी कथा सुनना चाहता हूँ! भले ही मैं तुम्हारे दुःख दूर न कर सकूँ, पर थोड़ा 'आह', 'ओह' तो कर ही सकता हूँ। तुम्हारे हाथ-पाँव अन्य किसी ने नहीं बाँधे हैं, तुमने स्वयं ही रस्सियों से अपने हाथ-पाँव बाँध रखे हैं। डरने की क्या बात! कुछ दिन शौक से बन्धन में रहो; जब शौक मिट जायेगा, तो बन्धन खोलकर निकल आना।... मेरी बात पर थोड़ा विश्वास करो – निर्जन स्थान में बैठकर खूब कातर भाव के साथ भगवान से प्रार्थना करो – सारी झंझटें दूर हो जायेंगी।"

उपरोक्त पत्र की प्रत्येक पंक्ति से सहानुभूति तथा साहस, प्रेम तथा शक्ति और विनय तथा वीरता झलकती है।

इसी प्रसंग में एक संन्यासी की स्मृतिकथा के कुछ अंश यहाँ उद्धृत करने योग्य हैं। उस दिन की स्मृति बड़ी हृदयस्पर्शी है और शुद्धानन्द-चरित्र को समझने की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। उनके जीवन के अन्तिम अध्याय में उनका स्वास्थ्य तेजी से बिगड़ रहा था। उन दिनों चिकित्सकों ने उनके लिये विशेष पथ्य की व्यवस्था करने का निर्देश दिया। स्वामी माधवानन्द के निर्देशानुसार मठ के एक तरुण ब्रह्मचारी बाजार करने के लिये खूब सबेरे ही सालकिया चले गये। पर यह व्यवस्था शुद्धानन्द जी को बताकर नहीं की गयी थी, क्योंकि व्यवस्थापकों को आशंका थी कि ज्ञात होने पर कहीं वे विशेष पथ्य लेने से मना न कर दें। ब्रह्मचारी को भी इस विषय में सावधान कर दिया गया था। इधर नियमित प्रथा के अनुसार मठ के सारे साधु-ब्रह्मचारी निर्दिष्ट समय पर संघाध्यक्ष महाराज का दर्शन करने गये। इसके बाद जो लोग उनके पास प्रतिदिन शास्त्र-पाठ आदि करते थे, वे लोग भी यथासमय आये। परन्तु वे नवीन ब्रह्मचारी स्वाभाविक रूप से ही उस दिन अनुपस्थित थे। शुद्धानन्द जी की तीक्ष्ण दृष्टि से यह बात छिपी नहीं रही।

ब्रह्मचारी के बाजार से लौट आने के बाद उन्होंने उसे बुला भेजा और आ जाने पर पूछा कि किस कारण उसने इस प्रकार सहसा शास्त्र-पाठ बन्द कर दिया है। युवक किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर सब कुछ बोल बैठा। सब सुनने के बाद महाराज बोले, "मेरे पथ्य के लिये तुम बाजार गये थे? इसके लिये तुम सालकिया तक चले गये थे? मेरे लिये? छी! छी! इस तुच्छ कार्य के कारण तुमने अपना एक दिन का स्वाध्याय छोड़ दिया।" फिर थोड़ी देर मौन रहने के बाद वे पुन: गम्भीर परन्तु आवेगपूर्ण कण्ठ से बारम्बार कहने लगे, "मैं संन्यासी हूँ! हाय! मेरे लिये विशेष भोजन की व्यवस्था! और इसी के चक्कर में एक संसारत्यागी वैराग्यवान युवक का इस प्रकार सर्वनाश करना! एक संन्यासी के भोजन की व्यवस्था के लिये ब्रह्मचारी अपना शास्त्र-पाठ, मनन-चिन्तन आदि सब छोड़कर बाजार में घूमे! धिक्कार है! मुझे ही धिक्कार है!"

यह घटना यहीं समाप्त नहीं हुई। वे सजल नेत्रों के साथ उन ब्रह्मचारी की ओर अपलक नेत्रों से देखते रहे, मानो उसके समक्ष कितने बड़े अपराधी हों। बाद में उन्होंने स्वामी माधवानन्द को बुलवाकर अपने हृदय की उस ज्वाला को तीव्रतापूर्वक प्रकट किया था। एक शुभाकांक्षी आचार्य तथा एक आदर्श संन्यासी का एक अद्भुत युगल चित्र इस छोटी-सी घटना के माध्यम से कितनी सुन्दरता से प्रस्फुटित हुआ है! विवेकानन्द-शिष्य शुद्धानन्द का यही वास्तविक चित्र है; संघगुरु के आसन पर बैठने के बाद भी उनके इस सुपरिचित रूप में जरा भी बदलाव नहीं आया था।

१८ अक्तूबर १९३८ से शुद्धानन्द जी के शरीर में प्रबल ज्वर, हिचकी तथा मूत्राल्पता आदि जटिल रोगों के लक्षण प्रकट होने लगे। उन्होंने स्वयं ही चिकित्सकों से कह दिया, "अब मुझे दवा आदि लेने की जरूरत नहीं है! अब मैं केवल भगवान का नाम सुनूँगा।" इन्हीं दिनों एक अन्धी महिला द्वारा दीक्षा के लिये आवेदन करने पर महाराज की

अस्वस्थता को ध्यान में रखकर सेवकों ने उसे लौटा दिया। परन्तु उनकी अनुकम्पा कैसी अद्‌भुत थी! २० अक्तूबर को, अपने देहत्याग के केवल तीन दिनों पूर्व उन्होंने बड़ी सहानुभूति के साथ उस वंचित अन्धी नारी की बातें सुनी थी। लोक-हितकारी संन्यासी ने अपनी मृत्यु-शय्या पर भी आर्त भक्त की पीड़ा को सुनकर संवेदना का अनुभव किया था।

पिछले कई महीनों से वे सर्वदा ही भगवत्-चर्चा तथा 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' या किन्हीं अन्य शास्त्रों का पाठ सुनने में निरत रहते थे। देहत्याग के पूर्व दिन तक उनके इस अभ्यास में कोई बाधा नहीं आयी। आखिरकार २३ अक्तूबर (१९३८ ई.) को सुबह ८ बजकर ४० मिनट पर स्वामीजी के प्रिय शिष्य शुद्धानन्द ने अपने चिर आकांक्षित धाम की ओर प्रयाण किया। उस समय उनकी आयु ६६ वर्ष थी।

शुद्धानन्द जी, स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों की सजीव प्रतिमूर्ति थे। मठ की नियमावली में निबद्ध स्वामीजी की प्रत्येक उक्ति के वे मानो जीवन्त भाष्य थे। "यह संघ उनका (श्रीरामकृष्ण) अंग-स्वरूप है और इस संघ में ही वे सदा विराजित रहेंगे" – स्वामीजी द्वारा नियमावली में लिपिबद्ध करायी गयी यह उक्ति, शुद्धानन्द जी के लिये मानो मूलमंत्र थी। संघरूपी श्रीरामकृष्ण की सेवा ही उनके समग्र जीवन का ध्यान, ज्ञान तथा तपस्या थी। 'उद्‌बोधन' पत्रिका के सम्पादन-काल में जब उन्हें रात के दो बजे तक उनींदी आँखों के साथ जागकर लेखन या प्रूफ-संशोधन आदि कार्य करना पड़ता, तो भी वे उसमें 'कालीपूजा के आनन्द' का उपभोग करते। उनकी दृष्टि में कर्म तथा उपासना के बीच बिल्कुल भी भेद-रेखा न थी। उनके प्रत्येक चिन्तन तथा आचरण में मानो स्वामीजी के भाव ही प्रस्फुटित हो उठते। यदा-कदा वे तीर्थ-पर्यटन के लिये – यहाँ तक कि वे मानसरोवर तक भी गये थे, परन्तु वे दीर्घ काल तक पहाड़ों या वनों में निवास करते हुए नहीं दिखे, इस कारण उनके जीवन में तपस्या की मात्रा कोई कम नहीं थी। साधना या तपस्या के विषय में उनका भाव बड़ा ही अर्थपूर्ण था। उनके स्वयं के एक पत्र की एक उद्‌धृति में यह बात बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त हुई है। एक जिज्ञासु को उन्होंने लिखा था, "मनुष्य की आन्तरिक शक्ति के साथ उसके environment (परिवेश) के संघर्ष को ही साधना कहते हैं। अत: उन्नति के दो उपाय हैं। एक है स्वयं को अपने परिवेश से बलपूर्वक छुड़ाकर एक नये अनुकूल परिवेश में स्थापित करना; और दूसरा है उसी परिवेश के भीतर रहकर यथासाध्य उसके साथ संघर्ष करते हुए अपने आन्तरिक बल का संग्रह करना। अन्यथा, यदि परिवेश में ही स्वयं को छोड़ दिया जाय, तो (आध्यात्मिक) मृत्यु अनिवार्य है।"

सभी प्राणियों में ब्रह्म-दर्शन तथा मनुष्यों को उनमें अन्तर्निहित ब्रह्मत्व की अनुभूति करने में सभी तरह से सहायता करना ही मानव-जीवन की सर्वश्रेष्ठ साधना है – वेदान्त-शास्त्र के इस चरम सत्य को शुद्धानन्द जी ने अपने गुरुदेव से प्राप्त किया था। वे केवल अपने जीवन में इसका रूपायन करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते थे, अपितु सर्वदा प्रयास करते कि दूसरों के हृदय में भी यह तत्त्व सुदृढ़ हो जाय। उनकी यह चेष्टा कितनी भावपूर्ण होती, कितनी शुभाकांक्षाओं से युक्त होती, वह एक विद्यालय के शिक्षक को लिखे उनके एक पत्रांश का पाठ करने से समझा जा सकता है। उन्होंने लिखा था, "तुम छात्रों पर जो दोषारोपण कर रहे हो, थोड़ा अच्छी तरह से सोचने पर तुम्हारी समझ में आ जायेगा कि वह दोष छात्रों का नहीं, तुम लोगों अर्थात् शिक्षकों का प्रमुख दोष है। स्वामीजी ने एक बार शिक्षा-विषयक अपने एक व्याख्यान में कहा था, 'Education is the manifestation of the perfection which is already in man.' (मनुष्य के भीतर पहले से ही निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है।) और शिक्षकों को यह सोचकर अश्रुपात् करना चाहिये कि वे क्यों छात्रों के भीतर निहित देवत्व को जाग्रत नहीं कर पा रहे हैं।"

दोपहर के सूर्य की ओर देखना बड़ा कठिन कार्य है, परन्तु उसके प्रतिबिम्ब को देखकर उसकी महिमा का किंचित् आभास अवश्य मिल जाता है। शुद्धानन्द आदि प्रतिबिम्बों के माध्यम से देखे बिना अलौकिक विवेकानन्द-चरित्र भी सामान्य व्यक्ति के लिये दुर्बोध्य है। यद्यपि स्वामी शुद्धानन्द सदा-सर्वदा के लिये श्री भगवान के चरणों में विलीन हो गये हैं, तथापि एक अलक्ष्य प्रेरणा के रूप में वे इस विराट् रामकृष्ण संघ में सर्वत्र विद्यमान हैं और रहेंगे। ❑❑❑

❖ (समाप्त) ❖
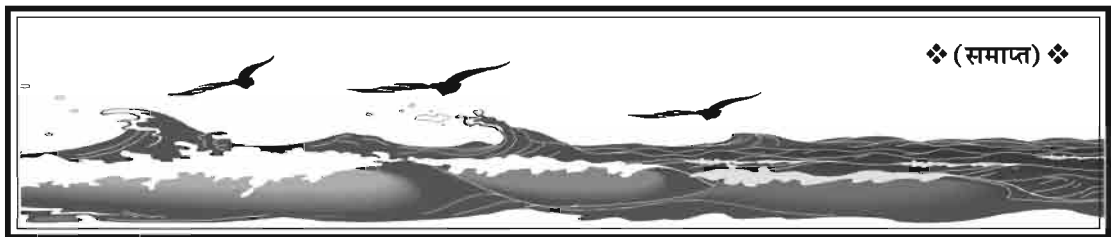
कर्मयोग – एक चिन्तन (३१)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

इन्द्रिय निग्रह कैसे हो, यह विषय अपने आप में बहुत लम्बा है। किन्तु यही निवेदन करना चाहूँगा कि मन में ठीक से जमा करके रखिए कि हमें सभी इन्द्रियों का संयम करना पड़ेगा। एक ही इन्द्रिय का संयम करके मनुष्य सुखी नहीं हो सकता और एक ही इंद्रिय का संयम करना संभव भी नहीं है। सभी इंद्रियाँ अत्यन्त प्रबल हैं। विद्वान भी इससे विचलित हो जाते हैं। यदि हम संयम नहीं करेंगे, तो ये हमारी हत्या कर देंगे। शारीरिक हत्या धीरे-धीरे करेंगे, मानसिक हत्या लगभग तुरन्त कर देते हैं और वह चोट इतनी तीव्र होती है कि यह जीवन भर चल सकती है। किसी से झगड़ा हुआ, तो उससे कैसे अनर्थ हो जाता है, इसका एक उदाहरण आपको बताता हूँ।

एक परिवार था। उसमें एक बड़ी बहन थी। उसका छोटा भाई था, पिता नहीं थे। माता भी बीमार रहती थीं। बड़ी बहन ने अपने छोटे भाई को माँ के समान पाला-पोसा था। यथासमय छोटे भाई का विवाह हो गया। सम्पन्न परिवार की वह लड़की थी। बड़ी बहन भी ससुराल में थी। छोटे भाई और ये बड़ी बहन में एक दूसरे से बहुत लगाव था, क्योंकि इस बच्चे को माँ का प्यार बड़ी बहन से ही मिला था। बड़ी बहन प्राय: ही इसके घर आती थी। भाई की बहू घर में आ गयी थी। अब एकाध बार उसको अच्छा नहीं लगा, किन्तु वह कुछ बोली नहीं। बहन जब आती थी, तो रसोईघर में जाकर कुछ बनाकर अपने भाई को खिलाती थी। उसके पसन्द का भोजन बनाती थी, उसके पसन्द के कपड़े लाती थी। उसका विवाह हो गया था, फिर भी वह उसके बाल ठीक कर देती थी। कहती थी, 'तू तो ऐसा बाल रखता था, अब ऐसा क्यों रखता है? और उसके बाल ठीक कर देती थी। जैसे बच्चे के साथ माँ व्यवहार करती है, वैसे ही यह अपने छोटे भाई के साथ व्यवहार करती थी। एक बार सब लोग भोजन में बैठे थे। घर में नौकर थे, वे खाना परोस रहे थे। किन्तु बड़ी बहन जब आती, तो वह खुद ही परोसती थी। कुछ बातचीत चल रही थी। किन्तु उस दिन ये बहू मुँह फुलाकर बैठी थी। यह लड़का दीदी से बात कर रहा है, दीदी से कुछ खाने की चीज माँग रहा है, उसे परोसने के लिये बोल रहा है और पत्नी को बोल रहा है कि खाओ, देखो दीदी ने कितना अच्छा बनाया है। किन्तु यह तो नाराज हो गयी थी। वह कहती है, 'अगर तुम्हें दीदी का ही व्यवहार अच्छा लगता था, तो उसी से विवाह कर लेते। छोटा भाई पत्थर की मूर्ति की तरह हो गया। बड़ी बहन भी बिचारी देखती रह गयी। यह लड़का गुस्से से उठकर किचन में जाकर छुरी लेकर आया और पत्नी के ऊपर प्रहार करने लगा। तब तक बड़ी दीदी ने उसे रोका, उसका हाथ कट गया, किन्तु पत्नी को चोट नहीं लगी। यह घटना इसलिये बता रहा हूँ कि यहाँ संयम का अभाव दिखाई देता है। अगर वह भ्रातृ-वधू संयम रखती और ऐसा न बोलती तो यह घटना न घटती।

आप हम जानकर रखें कि विपत्ति का मूल है संयम का अभाव। संयम कभी भी हठात् बड़ी वासनाओं के रोकने से शुरू नहीं हो सकता है। संयम पहले छोटी-छोटी वासनाओं के नियंत्रित करने के प्रयत्न से ही होगा। न्यूनतम से प्रारम्भ करना पड़ेगा तथा सहजतम का अभ्यास करना पड़ेगा। यही संयम करने के प्रयास का सूत्र है। 'कल से मैं क्रोध नहीं करूँगा' – ऐसा कहने वाला कोई भी व्यक्ति आज तक सफल नहीं हुआ। करोड़ों लोग ऐसे हो गये और आगे भी होंगे, जो रोज निश्चय करते हैं कि अब क्रोध नहीं करूँगा, किन्तु अभ्यास के बिना असफल हो जाते हैं। श्रीरामकृष्ण के गुरु तोतापुरीजी के बारे में सुना जाता है कि उन्होंने दृढ़ निश्चय से क्रोध और इन्द्रिय संयम किया था। वे निर्विकल्प समाधि-प्राप्त ब्रह्मज्ञ सन्त थे। केवल ब्रह्म में प्रतिष्ठित ब्रह्मज्ञानी ही ऐसा निश्चय करें, तो तत्काल इन्द्रियनिग्रह हो सकता है। आप और हमारे लिये यह संभव नहीं है। इसलिये न्यूनतम से प्रारम्भ करें और सरलतम का अभ्यास करें।

अब ३५वें श्लोक में भगवान 'वैश्विक सत्य' की घोषणा कर रहे हैं।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।। ३-३५

– दूसरे के श्रेष्ठ धर्म से अपना गुणरहित धर्म भी उत्तम है। अपने धर्म में मृत्यु उत्तम है, किन्तु परधर्म भयंकर होता है।

स्वधर्म क्या है, विगुण स्वधर्म क्या है, अपने स्वधर्म में मर जाना श्रेष्ठ है, दूसरों के स्वधर्म के जैसा आचरण करना महापाप है आदि विषयों पर विद्वानों और आचार्यों ने बहुत से लेख लिखे हैं और बड़ी-बड़ी व्याख्यायें की हैं। भगवान कहते हैं – हे अर्जुन, अच्छी प्रकार आचरण में लाया हुआ दूसरे का धर्म – धर्म मानें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि नहीं, इसका तात्पर्य है कर्तव्य, कितना भी अच्छा क्यों न हो, हमारे लिये कल्याणकारी नहीं हो सकता। अपना विगुण स्वधर्म गुणरहित,

दोष सहित स्वधर्म भी, कर्तव्य भी श्रेष्ठ है, कल्याणकारी है।

स्वधर्म क्या है? एक स्वधर्म जन्म के साथ आता है। फिर ज्यों-ज्यों हम बड़े होते हैं, हमारा स्वधर्म धीरे-धीरे बदलता जाता है। छोटा बच्चा है, उसको स्वधर्म नहीं है, क्योंकि उसको विवेक या पाप-पुण्य का ज्ञान नहीं होता है। पर यदि व्यावहारिक दृष्टि से सोचें, तो जब मेरा जन्म हुआ, तब मेरी माँ ने मेरे मुँह में अपना स्तन दिया और मैं दूध पीने लगा, यह स्वाभाविक स्वधर्म है। यह स्वधर्म हमारे लिये पाप-पुण्य का कारण नहीं होता है। यदि मेरी माँ को दूध नहीं निकल पाता और उसने मुझे बोतल से दूध पिला दिया होता, तो यह स्वाभाविक स्वधर्म नहीं है। बाल्यावस्था में स्वधर्म बंधन और मुक्ति का कारण नहीं होता है। जब हम किशोरावस्था में अपना अच्छा-बुरा समझने लगते हैं, उस समय हमें कर्तव्य का ज्ञान होता है, तब हमारे जीवन में स्वधर्म की साधना प्रारम्भ होती है।

महाभारत में एक सुन्दर कथा है। एक बुद्धिमान ब्राह्मण-कुमार गुरुकुल में पढ़ने गया। वहाँ उसने वेद का अभ्यास किया। हमारे गुरुकुलों में यह परम्परा थी कि २५ वर्ष की अवस्था तक विद्यार्थी-जीवन बिताते थे। उसके पश्चात वह गृहस्थ होता था। २५ वर्ष गृहस्थ, २५ वर्ष वानप्रस्थ और २५ वर्ष संन्यास। सामान्यत: १०० वर्ष की आयु की आशा की जाती थी। कुछ विद्यार्थी ऐसे होते थे, जो गृहस्थी में नहीं जाना चाहते थे। गुरु देख लेते थे कि इसकी वृत्ति विरक्ति की ओर है। शिष्य अपने गुरुदेव से कहते थे, 'गुरुदेव मैं गृहस्थी में प्रवेश नहीं करना चाहता।' उसकी योग्यता देखकर गुरु आदेश देते थे, कि जहाँ जाना है, जाओ और ब्रह्मचारी के रूप में रहो।

ऐसा ही एक ब्राह्मण कुमार था। उसने निश्चय किया, हम गृहस्थ जीवन में नहीं जायेंगे। शिक्षा समाप्ति के बाद गुरुकुल से गुरु का आशीर्वाद लेकर वह निकला और दूर किसी गाँव में जंगल के पास नदी के किनारे झोपड़ी बनाकर स्वाध्याय करता था, साधना करता और भिक्षा के लिये गाँव में जाता था। एक दिन की बात है। स्नान आदि से निवृत्त होकर वह एक बड़े वृक्ष के नीचे बैठे हुए वेदाध्ययन कर रहा था। उसी समय उसने देखा कि उसके सिर पर कुछ गिरा है। उसने हाथ से छुआ तो देखा कि एक चिड़िया ने बिट कर दिया है। उसको बहुत क्रोध आया, उसने ऊपर देखा तो बगुला था। इसके क्रोध से बगुला जलकर भस्म हो गया। ब्राह्मण-कुमार था, पहले तो उसे दु:ख हुआ कि अरे, एक प्राणी मर गया। पर देखें, जीवन में संयम सहज नहीं है। स्वधर्म भी सहज नहीं है। दया साधारणत: हमारे स्वभाव में होती है, किन्तु जब विशेष शक्ति होती है, तब दया दब जाती है और वह अत्याचार में बदल जाती है। यह मानव-मन का स्वभाव है। किन्तु दूसरे ही क्षण उसे लगा कि मुझमें इतनी शक्ति आ गयी। उसे पहले मालूम नहीं था कि उसकी साधना से उसमें इतनी शक्ति आ गयी है। आध्यात्मिक जीवन में ये शक्तियाँ या सिद्धियाँ बहुत ही हानिकारक होती हैं। बड़ा से बड़ा साधक भी पेट की ज्वाला से बच नहीं सकता है। ब्रह्मज्ञानी को भी भोजन करना पड़ता है। उस ब्राह्मण-कुमार को भूख लगी। वह भिक्षा के लिये गाँव में गया। उसने एक घर के सामने जाकर 'भवति भिक्षां देहि' – माँ, मुझे भिक्षा दो, कहा। एक महिला ने अंदर से आकर कहा कि बाबा, थोड़ी प्रतीक्षा करो, भिक्षा ला रही हूँ और अंदर चली गयी। यह बाहर खड़े-खड़े प्रतीक्षा करता रहा। जब भिक्षा माँगने जाते हैं, तब साधुओं में यह नियम है कि जब कहा है भिक्षा देती हूँ, तब रुक जाते हैं और अगर नहीं बोले, तो वहाँ से दूसरी जगह चले जाते हैं। अपनी इच्छा से कोई वापस नहीं जाता। इससे गृहस्थ का अकल्याण नहीं होता और जो भिक्षा माँगता है, उसकी सत्यरक्षा भी हो जाती है। वह खड़ा होकर राह देख रहा था। बहुत देर तक वह माता नहीं आयी, इधर यह साधक गुस्से से जलकर लाल हो रहा है तथा सोच रहा है कि यह महिला जानती नहीं है कि मैं कौन हूँ ! मुझमें कितनी शक्ति है ! काफी देर बाद वह माताजी भिक्षा लेकर आयी तथा उसने ब्राह्मण से क्षमा माँगी। उस साधक ने गुस्से से कहा, तुम जानती नहीं हो, मैं कौन हूँ ! इतनी देर कर दी ! तब वह बोली, "मैं बच्चे को दूध पिला रही थी, पति की सेवा कर रही थी, इसलिये देर हुई। यह सुनकर जैसे आग में घी डाल दिया, वह उबल पड़ा और बोला – एक ब्रह्मचारी की उपेक्षा करके तुम पति की सेवा कर रही थी, वह और अधिक क्रोधित हो उठा। तब उस गृहिणी ने उससे कहा, 'महाराज क्रोधित मत होओ। मैं कोई बगुली नहीं हूँ कि आपके क्रोध से भस्म हो जाऊँगी। यह साधक तो मानो आसमान से नीचे गिर गया। वह सोचने लगा, वहाँ तो मैं अकेले ही था और मेरे क्रोध से वह बगुला जल गया था, किन्तु यह बात इस माता को कैसे मालुम हुई? उसका क्रोध शान्त हो गया और उसने नम्रतापूर्वक उस माता से कहा, माता क्षमा करें, मैं भिक्षा तभी लूँगा, जब आप यह बतायेंगी कि आपको इस बात की जानकारी कैसे हुई? तब उस महिला ने कहा – जब मैं कुँवारी थी, अपने माता-पिता के घर में थी, तब घर के सारे काम-काज करती थी, पिता-भाई आदि सबकी सेवा करती थी। माता द्वारा बताये गये सभी कार्य बड़ी निष्ठा से करती थी। जब मेरा विवाह हुआ और मैं ससुराल जाने लगी, तब मेरी माँ ने कहा, 'देखो ये पति तेरे देवता हैं, तेरे इष्ट हैं, इनकी सेवा और आराधना से ही, तुझे मुक्ति मिलेगी। अब से ससुराल ही तेरा घर है, और उस घर को अपना घर समझकर सारी सेवा करना। तब से आज तक पातिव्रत धर्म का पालन करते हुए पति की सेवा करती हूँ। उसी से मुझे ये शक्ति प्राप्त हुयी है। यदि आप इस विषय में और अधिक कुछ जानना चाहते हों, तो आप

मिथिला चले जाइये। वहाँ एक व्याध, एक कसाई है। उसका नाम धर्मव्याध है। वह मांस बेचता है। वह धर्मव्याध आपको आगे का ज्ञान दे सकता है। इसको पहले अट-पटा सा लगा कि मैं एक ब्राह्मण ब्रह्मचारी हूँ और व्याध के पास ज्ञान लेने जाऊँ? पर उसने इस महिला का चमत्कार देखा था। बिना तपस्या से इस महिला को इतना ज्ञान है और मुझे तपस्या से या मेरे गुरु की कृपा से यह शक्ति मिली है, जिसे मैं जानता भी नहीं हूँ। तो चलो मिथिला जायँ। वह मिथिला गया। गाँव में पहुँचकर लोगों से पूछा कि भाई, धर्मव्याध कहाँ रहते हैं? लोगों ने कहा कि सामने जो पीपल का वृक्ष आप देख रहे हैं, वहीं धर्मव्याध रहते हैं। वह साधक वहाँ गया। वहाँ जाकर उसने दूर से देखा कि वहाँ मरे हुए पशु टंगे हुए हैं और वह व्याध मांस काट-काटकर ग्राहकों को दे रहा है। चाहे बच्चा हो, बूढ़ा हो, सभी को समान रूप से तौल कर दे रहा है। उसे देखकर ब्रह्मचारी को बड़ी घृणा हुई। उसने सोचा, यह व्याध पशुओं को मारकर उनका मांस बेच रहा है और मैं उससे ज्ञान लेने जाऊँ। मैं नहीं जाऊँगा। वह लौटकर चलने लगा, तभी उसी समय व्याध ने पुकार कर कहा अरे, कौशिक महाराज, कहाँ वापस जा रहे हैं! आपको अमुक गाँव की अमुक महिला ने भेजा है न! यह ब्रह्मचारी और अधिक आश्चर्यचकित हुआ कि मेरे पिता द्वारा रखा हुआ नाम इस को कैसे मालूम हुआ? और यह भी इसने कैसे जाना कि उस महिला ने मुझे यहाँ भेजा है? वह साहस करके व्याध के पास लौट आया। जब सभी ग्राहक चले गये, तब व्याध ने अपनी दुकान साफ-सुथरा करके बंद कर दी। फिर ब्रह्मचारी को लेकर अपने घर गया। उन्हें बाहर के बरामदे में सम्मान पूर्वक बैठा दिया और स्वयं अंदर चला गया। बहुत देर के बाद वह बाहर आया। ब्राह्मण ने नम्रतापूर्वक व्याध से देरी का कारण पूछा। उसने बताया कि मेरे माता-पिता वृद्ध हैं। उन्हें स्नान करवा कर, भोजन देकर, विश्राम की व्यवस्था करके तब आपके पास आया हूँ। चलिये भिक्षा ग्रहण कीजिये। भोजन के बाद ब्राह्मण तथा व्याध एक साथ बैठे। व्याध के साथ जो प्रश्नोत्तर हुए, वे महाभारत में व्याध गीता के नाम से प्रसिद्ध हैं। उसमें श्रेष्ठ आध्यात्मिक ज्ञान की बातें हैं।

इसलिये हमें कर्म बदलने की आवश्यकता नहीं है। जो हमारा कर्त्तव्य है, उसका पालन करने से हम परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। स्वामीजी ने अपने कर्मयोग की व्याख्या में कहा है कि Each is great in his own place. – सभी अपने-अपने स्थान पर श्रेष्ठ हैं। उस कसाई को उसके पिता, दादा, परदादा से यह व्यवसाय मिला था। उसे वह निष्ठापूर्वक कर रहा था। वह गृहिणी अपने घर में कन्या के रूप में सेवा करती थी, ससुराल में सहधर्मिणी के रूप में सेवा कर रही थी, पातिव्रत पालन कर रही थी। प्रत्येक व्यक्ति को अपना-अपना स्वाभाविक कर्तव्य करना चाहिये। यही स्वधर्म का संदेश है।

स्वधर्म में परिवर्तन भी होता है। हम सभी संन्यासी, ब्रह्मचारी लोग भी गृहस्थों के घर से ही आये हैं। जब हम अपने घरों में थे, तब हमारा स्वधर्म था कि अपने घर के माँ-पिता, भाई-बहन आदि की सेवा करना। अब हम संन्यासी हैं, तो हमारे कर्त्तव्य और कर्म में परिवर्तन हो गया। स्वधर्म-पालन के सम्बन्ध में एक दूसरी घटना आपको सुनाता हूँ।

७०-७५ वर्ष पूर्व की बात है। एक बालक था। उसकी दादी घर में पूजा करती थी। दादी रोज शक्कर या मिश्री का भोग लगाती थी। घर में नौकर थे। दादी पूजा करने बैठी, तो उन्होंने देखा कि भगवान को चढ़ाने के लिये प्रसाद नहीं है। तो उन्होंने बहू से पूछा। बहू ने कहा कि आज बाजार से लाना भूल गयी। उधर उसका बच्चा भूख से रो रहा था। बच्चे ने कुछ खाने को माँगा। दादी कहती है, ठीक है, मैं तुझे खाने को दे रही हूँ। किन्तु उसकी माँ बच्चे से कहती है कि ठहर जा, दादी भी भूखी हैं। वे भी बिना भगवान को भोग लगाये पानी भी नहीं पीतीं। दौड़कर के दूकान से मिश्री या बतासा खरीद कर ले आओ। दादी भगवान को भोग लगाकर तब तुम्हें देगीं। बच्चा भूखा है, तो भी माँ उसे ऐसा कह रही है। बच्चे ने माँ की आज्ञा मानी। वह दौड़कर प्रसाद लाकर दादी को दिया। फिर दादी ने उसे भोग लगाकर खाने को दिया। बड़ों की आज्ञा मानना बच्चे का स्वधर्म है। बच्चे में अच्छे संस्कार देना माँ का स्वधर्म है। वहा बच्चा बड़ा होकर घर का सब काम करता है। बच्चा बड़ा होकर गृहस्थ हो जाता है, उसका अलग स्वधर्म होता है। जब संन्यासी हो जाता है, तो उसका स्वधर्म बदल जाता है। अभी तक अपने घर में रहकर सबकी सेवा करना उसका स्वधर्म था। किन्तु जब वह घर छोड़कर किसी आश्रम या संघ में जाकर संन्यासी हो गया, तब उसका स्वधर्म बदल गया। अब जिस आश्रम में वह आया है, वहाँ सबकी सेवा करना उसका स्वधर्म है। धीरे-धीरे उसकी समझ में आता है कि मेरे पिता की उम्र के जितने भी पुरुष हैं और माँ की उम्र की जितनी भी महिलाएँ हैं, वे सभी मेरे माता-पिता के समान हैं। इस विराट संसार में इतने माताओं और पिताओं की मैं सेवा कर रहा हूँ। इस प्रकार व्यक्ति के स्वभाव, स्वधर्म में परिवर्तन होता रहता है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

स्वानुभूति प्रकरण (जारी) –

चलत्युपाधौ प्रतिबिम्बलौल्य-
मौपाधिकं मूढधियो नयन्ति ।
स्वबिम्बभूतं रविवद्विनिष्क्रियं
कर्तास्मि भोक्तास्मि हतोऽस्मि हेति ।।५०८।।

अन्वय – मूढधियः उपाधौ चलति 'कर्ता अस्मि', 'भोक्ता अस्मि', 'हा हतः अस्मि' – इति औपाधिकं प्रतिबिम्ब-लौल्यं स्व-बिम्बभूतं विनिष्क्रियं रविवत् नयन्ति ।

अर्थ – जैसे जल के हिलने से उसमें प्रतिबिम्बित निश्चल सूर्य भी हिलता हुआ प्रतीत होता है, वैसे ही मूढ़बुद्धि लोग (देह-मन आदि) उपाधियों में क्रिया होने से (उनसे तादात्म्य वश) निष्क्रिय चैतन्य आत्मा को क्रियाशील समझ 'मैं कर्ता हूँ', 'मैं भोक्ता हूँ', 'हाय, मैं मरा !' आदि कहते रहते हैं ।

जले वापि स्थले वापि लुठत्वेष जडात्मकः ।
नाहं विलिप्ये तद्धर्मैर्घटधर्मैर्नभो यथा ।।५०९।।

अन्वय – एषः जड-आत्मकः जले वा अपि स्थले वा अपि लुठतु । अहं तद्धर्मैः न विलिप्ये, यथा नभः घटधर्मैः ।

अर्थ – यह जड़ शरीर चाहे जल में पड़ा रहे या स्थल में; मैं इसके गुणों से वैसे ही लिप्त नहीं होता, जैसे आकाश घट में रहता हुआ भी उसके गुणों से निर्लिप्त रहता है ।

कर्तृत्वभोक्तृत्वखलत्वमत्तता-
जडत्वबद्धत्वविमुक्ततादयः ।
बुद्धेर्विकल्पा न तु सन्ति वस्तुतः
स्वस्मिन्परे ब्रह्मणि केवलेऽद्वये ।।५१०।।

अन्वय – कर्तृत्व-भोक्तृत्व-खलत्व-मत्तता-जडत्व-बद्धत्व-विमुक्तता-आदयः बुद्धेः विकल्पाः, तु वस्तुतः केवले अद्वये परे ब्रह्मणि स्वस्मिन् न सन्ति ।

अर्थ – कर्तापन, भोक्तापन, दुष्टता, उन्मत्तता, जड़ता, बद्धता, मुक्तता आदि सभी बुद्धि (रूपी उपाधि) की कल्पनाएँ हैं; केवल अद्वय ब्रह्म रूपी अपने स्वरूप (आत्मा) में इनका कोई अस्तित्व नहीं होता ।

सन्तु विकाराः प्रकृतेर्दशधा शतधा सहस्त्रधा वापि ।
किं मेऽसङ्गचितस्तैर्न घनः क्वचिदम्बरं स्पृशति ।।५११।।

अन्वय – प्रकृतेः दशधा शतधा वा सहस्त्रधा अपि विकाराः सन्तु, तैः मे असङ्गचितः किं? घनः अम्बरं क्वचित् स्पृशति?

अर्थ – प्रकृति में दस, सौ या हजार तरह के विकार होते रहते हैं; (पर) मुझ असंग, चैतन्यस्वरूप को उनसे क्या लेना-देना ! मेघ क्या कभी आकाश का स्पर्श कर सकते हैं?

अव्यक्तादिस्थूलपर्यन्तमेतत्
विश्वं यत्राभासमात्रं प्रतीतम् ।
व्योमप्रख्यं सूक्ष्ममाद्यन्तहीनं
ब्रह्माद्वैतं यत्तदेवाहमस्मि ।।५१२।।

अन्वय – यत्र अव्यक्तादि स्थूलपर्यन्तं एतत् आभासमात्रं विश्वं प्रतीतम्, यत् व्योमप्रख्यं सूक्ष्मं आद्यन्तहीनं तत् एव अद्वैतं ब्रह्म अहम् अस्मि ।

अर्थ – जिस (अद्वय ब्रह्म) में, अव्यक्त (प्रकृति) से लेकर स्थूल शरीर तक यह सारा विश्व-ब्रह्माण्ड आभास मात्र प्रतीत होता है, जो (अद्वय ब्रह्म) आकाश के समान सूक्ष्म तथा अनादि अनन्त है, वह अद्वय ब्रह्म ही मेरा स्वरूप है ।

सर्वाधारं सर्ववस्तुप्रकाशं
सर्वाकारं सर्वगं सर्वशून्यम् ।
नित्यं शुद्धं निश्चलं निर्विकल्पं
ब्रह्माद्वैतं यत्तदेवाहमस्मि ।।५१३।।

अन्वय – सर्वाधारं सर्व-वस्तु-प्रकाशं सर्वाकारं सर्वगं सर्व-शून्यम् नित्यं शुद्धं निश्चलं निर्विकल्पं यत् अद्वैतं ब्रह्म तत् एव अहम् अस्मि ।

अर्थ – जो (ब्रह्म) सबका आधार है, सभी वस्तुओं का प्रकाशक है, सभी प्रकार के आकारों वाला है, सब कुछ में प्रविष्ट (ओतप्रोत) है; (तथापि) जो इन सबसे पृथक, नित्य, शुद्ध, निश्चल और निर्विकल्प है, वह अद्वय ब्रह्म ही मैं हूँ ।

यत्प्रत्यस्ताशेषमायाविशेषं
प्रत्यग्रूपं प्रत्ययागम्यमानम् ।
सत्यज्ञानानन्तमानन्दरूपं
ब्रह्माद्वैतं यत्तदेवाहमस्मि ।।५१४।।

अन्वय – यत् प्रत्यस्त-अशेष-मायाविशेषं प्रत्यग्-रूपं प्रत्यय-अगम्यमानम् सत्य-ज्ञान-अनन्तं आनन्दरूपं अद्वैतं ब्रह्म तत् एव अहम् अस्मि ।

अर्थ – जो (अद्वय ब्रह्म) माया के समस्त विकारों (भेदों) से रहित है, जो अन्तरात्मा के रूप में अधिष्ठित है, जो बुद्धि-वृत्तियों के परे है, वह सत्य, ज्ञान, अनन्त आनन्द-रूप अद्वय ब्रह्म ही मेरा स्वरूप है ।

निष्क्रियोऽस्म्यविकारोऽस्मि
निष्कलोऽस्मि निराकृतिः ।
निर्विकल्पोऽस्मि नित्योऽस्मि
निरालम्बोऽस्मि निर्द्वयः ।।५१५।।

अन्वय – (अहम्) निष्क्रियः अस्मि, अविकारः अस्मि, निष्कलः अस्मि, निराकृतिः निर्विकल्पः अस्मि, नित्यः अस्मि, निरालम्बः निर्द्वयः अस्मि ।

अर्थ – मैं निष्क्रिय, निर्विकार (अपरिवर्तनशील), अंशरहित (पूर्ण), निराकार, निर्विकल्प, नित्य, निरालम्ब और अद्वय हूँ ।

❖ (क्रमशः) ❖

स्वामी गीतानन्द जी महाराज ब्रह्मलीन हुये

रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के वरिष्ठ उपाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी गीतानन्द जी महाराज ने १४ मार्च, २०१४ को रामकृष्ण मिशन सेवाप्रतिष्ठान, कोलकाता में प्रात: ९ बजकर १० मिनट पर ब्रह्मलीन हो गये। वे ९० वर्ष के थे। उनके भौतिक शरीर को बेलूड़ मठ में लाकर भक्तों के दर्शनार्थ रखा गया। उसके बाद हजारों भक्तों की उपस्थिति में १५ जनवरी, २०१४ को १२.३० बजे बेलूड़ मठ में दाह-संस्कार हुआ। शोकसंतप्त हृदय से भक्तों ने अपने संघगुरु को भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की और अंतिम दर्शन किये।

स्वामी गीतानन्द जी महाराज का जन्म बांग्लादेश के ढाका जिले के एक गाँव में १७ अप्रैल, १९२४ को हुआ था। उन्होंने स्वामी विरजानन्द जी महाराज से दीक्षा प्राप्त की थी। वे रामकृष्ण मठ, चेन्नई में १९४६ में संघ में सम्मिलित हुये। १९५६ में स्वामी शंकरानन्द जी महाराज ने उन्हें संन्यास प्रदान किया। अपने ज्वानिंग सेंटर के अतिरिक्त सहायक के रूप में उन्होंने बेलूड़ मठ मुख्यालय और कानपुर में कार्य किया और राँची सेनीटोरियम, रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी और काँकुड़गाछी के प्रमुख रहे। वे स्वामी विरजानन्द जी महाराज के सेवक रहे और कुछ काल के लिये स्वामी शंकरानन्द जी महाराज के सचिव रहे।

अप्रैल, १९७३ में वे रामकृष्ण मठ-मिशन के न्यासी और रामकृष्ण मिशन संचालन समिति के सदस्य नियुक्त हुये। जून १९७४ में उन्हें रामकृष्ण मठ-मिशन का सह-सचिव और अप्रैल, १९७५ में कोषाध्यक्ष चयनित किया गया। १९८५ में उन्हें पुन: सह-सचिव चुना गया, जिसमें उन्होंने अपनी क्षमतानुसार एक दशक तक सेवा की।

अप्रैल, २००३ में उन्हें रामकृष्ण मठ-मिशन का उपाध्यक्ष चुना गया। अपनी आध्यात्मिक राज्य की छत्र-छाया में उन्होंने भारत के विभिन्न भागों में बहुत से भक्तों को मन्त्र-दीक्षा प्रदान की। उनकी बंगाली भाषा में दो पुस्तकें बड़ी ही प्रसिद्ध हैं – 'श्रीरामेर अनुध्यान' और 'भागवत कथा'।

बेमेतरा में विवेकानन्द जयन्ती मनायी गयी

१२ जनवरी, २०१४ को सांस्कृतिक विवेकानन्द उत्कर्ष परिषद, बेमेतरा (छ.ग) द्वारा विवेकानन्द जयन्ती को राष्ट्रीय युवा दिवस के रूप में मनाया गया, जिसमें जिला के कलेक्टर डॉ. बसवराजू एस मुख्य अतिथि थे। सभा की अध्यक्षता जिया ग्राम की सरपंच श्रीमती देवकी वर्मा की थीं और विशिष्ट अतिथि डॉ. महेन्द्र तिवारी और प्रहलाद मिश्र थे। संस्था के अध्यक्ष सौरभ तिवारी ने स्वागत भाषण दिया। परिषद के संयोजक ताराचंद माहेश्वरी ने जिया ग्राम पंचायत के नशामुक्त होने पर २१००० के इनाम देने की घोषणा की। नशा नहीं लेने का संकल्प करनेवाले ५० से अधिक युवकों को शाल और श्रीफल से सम्मानित किया गया।

रायपुर में राज्य-स्तरीय सर्वधर्म समन्वय संगोष्ठी

स्वामी विवेकानन्द जी की १५०वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में ९ और १० फरवरी, २०१४ को रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में द्विदिवसीय राज्य-स्तरीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। यह संगोष्ठी लोगों में धार्मिक सद्भाव का प्रसार करने के लिये रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ के सौजन्य से भारत सरकार के अनुदान द्वारा आयोजित थी।

रविवार, ९ फरवरी, २०१४ को सन्ध्या ५ बजे संगोष्ठी का उद्घाटन मुख्य अतिथि के रूप में छत्तीसगढ़ के प्रिय मुख्यमंत्री डॉ. श्री रमन सिंह जी ने आश्रम प्रांगण में निर्मित भव्य पांडाल में किया। इस सुअवसर पर मुख्यमंत्री जी ने अपने अभिभाषण में छत्तीसगढ़ की धार्मिक सद्भावना का विशेष रूप से उल्लेख किया। इस सत्र के विशिष्ट अतिथि रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द मेमोरियल, वड़ोदरा के सचिव स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी और रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर के सचिव स्वामी व्याप्तानन्द जी थे।

मुख्य वक्ता इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग की प्राध्यापिका डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा जी ने धर्म पर प्रकाश डाला। इस सत्र की अध्यक्षता रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने की।

आश्रम-छात्रावास के बच्चों के गीत से सभा सम्पन्न हुई।

सोमवार, १० फरवरी, २०१४ को ९ से ११ बजे तक पहला सत्र चला। विषय था – 'धर्म और शान्ति।' इस सत्र की अध्यक्षता कुलपति डॉ. सच्चिदानन्द जोशी जी ने की और श्री कनक तिवारी, डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा और डॉ. केदार शिवहरे ने व्याख्यान दिये।

दूसरा सत्र ११.३० से १.३० बजे तक चला। इसमें विषय रखा गया था – 'सर्वधर्म समन्वय में रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा का योगदान।' इस सत्र की अध्यक्षता

रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष स्वामी निखिलात्मानन्द जी ने किया था। वक्ता थे स्वामी सत्यरूपानन्द, स्वामी निखिलेश्वरानन्द और डॉ. ओमप्रकाश वर्मा जी।

तीसरा सत्र अपराह्न २.४० से ४.३० बजे तक था, जिसकी अध्यक्षता पं. रविशंकर विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. एस. के. पाण्डेय जी ने किया। इस सत्र का विषय 'धार्मिक सद्भाव में मेरे धर्म का योगदान' था। इसमें विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों ने अपने धर्म के योगदान का उल्लेख किया। हिन्दू धर्म के डॉ. एल. पी. मिश्र, ईसाई धर्म के पास्टर एस.पी. दत्ता, इस्लाम धर्म के प्राध्यापक एम. ए. खान, जैन धर्म की ऋतु जैन और बौद्ध धर्म के भिक्खु महेन्द्र ने व्याख्यान दिये।

चौथा सत्र समापन समारोह ५ बजे से ६.३० तक चला। इस सत्र के मुख्य अतिथि छत्तीसगढ़ विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी परिषद, रायपुर के महानिदेशक श्री मुकुन्द हम्बर्डे जी थे। विशिष्ट अतिथि थे स्वामी निखिलात्मानन्द जी, स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी और अध्यक्षता किया था स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने। कई प्रतिभागियों ने भी अपने विचार व्यक्त किये। सभी सत्रों का धन्यवाद ज्ञापन स्वामी निर्विकारानन्द जी ने किया। सभी प्रतिभागियों को सुस्वादु समोसा, चाय आदि के नाश्ते के साथ यह विशेष सभा सम्पन्न हुई। अखबारों, आकाशवाणी समाचार और टी.वी. ने प्रमुखता से इस समाचार को प्रकाशित किया। इस गोष्ठी में ५५० लोगों ने भाग लिया।

विद्यापीठ में श्रीमत् स्वामी गौतमानन्द जी का पदार्पण

२४ फरवरी, २०१४ को विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर में रामकृष्ण मठ, चेन्नई के अध्यक्ष और संघगुरु पूज्यपाद स्वामी गौतमानन्द जी महाराज का 'शिक्षा' पर व्याख्यान हुआ। दीप-प्रज्ज्वलन के बाद विद्यापीठ के बच्चों ने शान्तिमन्त्र और स्वागत गान किया। उसके बाद विद्यापीठ के सचिव डॉ. ओमप्रकाश वर्मा जी ने पुष्पगुच्छ से स्वामी गौतमानन्द जी का और वहाँ के प्राचार्य श्री एच. डी. प्रसाद जी ने स्वामी सत्यरूपानन्द जी का स्वागत किया। महाराज जी के साथ मंचस्थ स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने भी श्रोताओं को स्वामी गौतमानन्द जी का परिचय दिया और स्वामी विवेकानन्द जी के ऋषि-जीवन से अवगत कराया। उन्होंने कहा – "आज का दिन विद्यापीठ के लिये स्मरणीय रहेगा। क्योंकि श्रीरामकृष्णदेव के मानस-पुत्र स्वामी ब्रह्मानन्द जी के शिष्य स्वामी यतीश्वरानन्द जी के शिष्य हैं स्वामी गौतमानन्द जी महाराज, जो आज आपके इस प्रांगण में विद्यमान हैं। स्वामी विवेकानन्द जी ने वेदान्त की जीवन में अनुभूति की, यह उनकी विशेषता है। वे केवल विद्वान नहीं थे। नरेन्द्र से विवेकानन्द की यात्रा सबके लिये प्रेरणाप्रद है। स्वामीजी ने शिकागो-व्याख्यान के समय माँ सरस्वती को याद किया और तत्क्षण माँ सरस्वती उनके हृदय में प्रगट हो गयीं। स्वामीजी के द्वारा प्रदत सफलता के सूत्र – पवित्रता, धैर्य और अध्यवसाय हम सबके जीवन में प्राप्त हो।"

तदनन्तर सभा के मुख्य अतिथि स्वामी गौतमानन्द जी महाराज ने स्वामी विवेकानन्द जी के जीवन और शिक्षा पर प्रकाश डालते हुये कहा – "स्वामी विवेकानन्द केवल भारत ही नहीं, सारी दुनिया को सन्देश देने के लिये आये थे। वे विश्व-मानव थे। विद्या वह है, जो मुक्ति दे – **सा विद्या या विमुक्तये।** हम परमात्मा की संतान हैं। हममें अनन्त शक्ति, ज्ञान है। स्वामी विवेकानन्द सभी विषय जानते थे। हम जान सकते हैं। अपने अन्दर की छिपी शक्ति को प्रगट करना आत्मज्ञान है। स्वामी विवेकानन्द कहते थे – **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च।** जहाँ अज्ञान है, वहीं डर है। जिसे ज्ञान है, वह निडर है। सभी अपने को आत्मा समझें। आत्मा समझने का अर्थ है, मैं सबसे प्रेम कर सकता हूँ, सबकी सेवा कर सकता हूँ। आध्यात्मिक जीवन आध्यात्मिक गुणों से आता है। पवित्रता से हम सारी दुनिया को अपने ही भाई-बहन, माता-पिता के रूप में देख सकते हैं। ऐसा सोचें कि मेरे भाई-बहन को भगवान ने दिया है। एक ही परमात्मा की संतान हम सब भाई-बहन हुये। सबका सम्बन्ध भगवान से जोड़ दें, तो हम पवित्र रहेंगे। इसकी शिक्षा हमारे बच्चे-बच्चियों को देनी चाहिये। हमें महान कर्म करना चाहिये। एक बार एक शिक्षक ने बच्चों से तीन प्रश्न पूछे – १. 'कौन-सा शासक है, जिसने बौद्ध धर्म का बहुत प्रचार किया?' लड़कों ने उत्तर दिया –'सम्राट अशोक'। २. 'कौन-से राजा हैं, जिन्होंने हिन्दू-धर्म की रक्षा की?' लड़कों ने उत्तर दिया – 'छत्रपति शिवाजी'। ३. 'तुम्हारे परदादा का क्या नाम है?' अब सभी लड़के एक-दूसरे को देखने लगे। कोई न बता पा रहा था। उसमें से एक लड़का खड़ा होकर बोला – "हम उन्हें क्यों याद रखें? उन्होंने देश के लिये क्या किया है?" तब शिक्षक ने बड़े प्रेम से कहा – "बच्चो, याद रखना कि तुम्हारी भी पीढ़ी भविष्य में तुम्हें ऐसा न कहे।" नि:स्वार्थता नैतिकता का मूल है। भगवान में विश्वास करें, यह हमारे रक्त में है। परमात्मा में विश्वास करें और प्रार्थना करें।"

अन्त में डॉ. ओमप्रकाश वर्मा जी ने सबको धन्यवाद दिया और बच्चों के 'माँ हमें मनुष्य बना दे' गीत से सभा सम्पन्न हुई। इसमें विद्यापीठ की बी.एड. विभाग की प्राचार्या रश्मी पटेल भी मंचस्थ थीं। सभा में छात्र-छात्रायें, और जनसमुदाय उपस्थित था। रामकृष्ण मिशन के संन्यासीगण भी उपस्थित रहे। सभा का संचालन वहीं के छात्र संदीप कुमार पाटले ने किया। ❑❑❑

ॐ ॐ

''भगवान श्रीरामकृष्ण'' के मंदिर व नवीन केन्द्र की स्थापना में सहयोग हेतु निवेदन''
(आर्थिक योगदान के लिये अनुरोध)

प्रिय हितैषीगण, मित्रों एवं भक्तवृन्द

नमस्कार !

केरल की रामकृष्ण मठ हरिपद शाखा के भवन-निर्माण तथा भगवान श्रीरामकृष्ण देव के मन्दिर निर्माण में पुनीत सहयोग हेतु सुअवसर तथा आमंत्रण है। केरल के दक्षिण भाग में हरिपद मठ अवस्थित है। जिसे श्रद्धेय स्वामी निर्मलानन्द जी महाराज ने १९१३ में प्रारम्भ किया था। केरल में रामकृष्ण-भावधारा की यह सर्वप्रथम शाखा थी। इस आश्रम का सौभाग्य रहा है कि परम पूज्यपाद स्वामी ब्रह्मानन्द महाराज (श्रीरामकृष्णदेव के मानस पुत्र एवं और अनन्य शिष्य) एवं रामकृष्ण मठ व मिशन के अनेक वरिष्ठ संन्यासीगण यहाँ पधार चुके हैं।

दीर्घ सौ वर्ष का अन्तराल बीत चुका है। अनेक परिवर्तनों के साथ-साथ आश्रम के भवन की दशा भी जीर्ण-शीर्ण हो गयी है। इस दशा में उसका उपयोग भी नहीं हो सकता है। सम्पूर्ण परिसर के पुनर्निर्माण की आवश्यकता है। भगवान रामकृष्णदेव की कृपा से प्रस्तावित नवीन परिसर के निर्माण के नक्शे इत्यादि बन चुके हैं। इस निर्माणाधीन परिसर में प्रस्तावित भगवान श्रीरामकृष्णदेव के सार्वभौमिक मन्दिर, सेवाभाव तथा सामाजिक विकास की सार्वजनिक गतिविधियों हेतु कमरे, साधु-निवास एवं आगन्तुक भक्तों के लिये अतिथिगृह, एक कार्यालीयन भवन, ग्रंथालय तथा वाचनालय हेतु कक्षों का निर्माण प्रथमत: प्रस्तावित है। उपर्युक्त प्रकल्प की अनुमानित लागत ५ करोड़ रुपये हैं। इस राशि को रुपये १०००/- की ५००० (पचास हजार) इकाइयों में विभाजित किया गया है।

हमारा विनम्र आग्रह है कि प्रत्येक रूपये १०००/- के योगदान से ५०००० भक्तों द्वारा राशि इकट्ठी की जाए। प्रत्येक भक्त के लिए पुनीत अवसर है कि रूपये १०००/- की राशि देकर केरल के हरिपद रामकृष्ण मठ की शाखा के पुनर्निर्माण में योगदान दें। रुपये १०००/- से अधिक राशि का योगदान भी सादर गृहीत है।

हम सभी उदारमना दान-दाताओं से, विशेषकर श्रीरामकृष्णदेव के भक्तों से निवेदन करते हैं कि वे अपनी दान-राशि प्रदान कर भगवान श्रीरामकृष्ण देव के इस पवित्र स्थल को सेवा-भाव हेतु मूर्त रूप प्रदान करें। इस पुनीत कार्य में आप अपने रिश्तेदारों तथा मित्रों को भी सम्मिलित कर सकते हैं।

आप महानुभाव जो भी इस पुनीत सेवायज्ञ में योगदान देंगे, वे निश्चित ही भगवान श्रीरामकृष्णदेव, माँ सारदादेवी एवं स्वामीजी की कृपा से अनुगृहीत होंगे।

जय श्रीरामकृष्ण !

प्रभु सेवा में आपका
स्वामी वीरभद्रानन्द,
अध्यक्ष

भारत में आपका दान चेक/डी.डी. द्वारा रामकृष्ण मठ, ''हरिपद'' नाम से तथा
NEFT Transfer : A/C Number :30642551603,
स्टेट बैंक ऑफ इंडिया, हरिपद
RTGS/NEFT/IFSC Code : SBIN0010596 .
NEFT के संदर्भ में ट्रांसफर करें। आपका नाम, राशि डाक का पता, पेन नम्बर, फोन नम्बर और दानराशि की जानकारी, कृपया ई-मेल करें – srkmathharipad@gamil.com (यह हिसाब रखने की दृष्टि से है)

विदेश में दान देने की प्रक्रिया – कृपया चेक/डी.डी. 'रामकृष्ण मठ' और उसे जनरल सेक्रेटरी, रामकृष्ण मठ' बेलूर मठ, जिला हावड़ा (पं. बंगाल) पिन ७११२०२ भारत (INDIA) के पते पर भेजें। संलग्न पत्र में कृपया यह उल्लेख करें कि यह दान हरिपद शाखा के भवन निर्माण राशि के लिये है।

दान की समस्त जानकारी ईमेल srkmathharipad@gmail.com, viveka.vira@gmail.com

---

रामकृष्ण मठ को दिया गया दान आयकर धारा ८० जी के अन्तर्गत आयकर मुक्त है।
रामकृष्ण मठ, दक्षिण नाडा (नदा), अशोका पेट्रोल पम्प के सामने, हरिपद – ६९०५१४
जिला – अल्लेप्पी, केरल फोन : ०९७४५३२५८३४
Email : srkmathharipad@gmail.com, viveka.vira@gmail.com, website : www.rkmathharipad.org